ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान वैदिक विश्वविद्यालय

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

संस्करण 01.12 2018

प्राचिन गुरुकुल शिक्षा विधी की पुर्नस्थापना

प्रश्न :- गुरूकुल शिक्षा प्रणाली क्या होती है ?

उत्तर :- घर में न रहकर गुरू के अधीन रहते हुए ब्रह्मचर्य पूर्वक त्याग, तपस्या युक्त जीवन यापन करते हुए विद्या अर्जन करना गुरूकुल शिक्षा प्रणाली है।

प्रश्न :- ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी किसे कहते हैं ?

उत्तर :- जो आचार्य कुल में रहकर शरीर की रक्षा, चित की रक्षा करते हुए विद्या के लिये प्रयत्न करे उसे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी कहते हैं।

प्रश्न :- गुरूकुल में कितनी आयु के बच्चों का प्रवेश होता है ?

उत्तर :- गुरूकुल में 6 वर्ष की आयु में प्रवेश होता है। या अपवाद रूप में किसी गुरूकुल में बड़ी आयु में भी प्रवेश होता ही है।

प्रश्न :- गुरूकुल में प्रवेश पाने वाले बच्चों की पारिवारिक अवस्था कैसी होनी चाहिये ?

उत्तर :- गुरूकुल में अमीर, गरीब, राजा, दरिद्र, आदिवासी, अछूत सबका समान रूप से प्रवेश हो सकता है, कोई भेद भाव नहीं है।

प्रश्न :- गुरूकुलीय विद्यार्थी के भोजन, वस्त्र कैसे होते हैं ?

उत्तर :- गुरूकुलीय विद्यार्थीयों का भोजन शुद्ध, सात्विक तथा वस्त्र सभ्य शिष्ट आदर्श होते हैं।

प्रश्न :- प्राचीन गुरूकुलों में कौन कौन से विषय पढ़ाये जाते थे ?

उत्तर :- प्राचीन गुरूकुलों में वेद, दर्शन, उपनिषद, व्याकरण आदि आर्ष ग्रन्थ पढ़ाये जाने के साथ साथ गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, चिकित्सा, भूगोल, खगोल, अन्तरिक्ष , गृह निर्माण, शिल्प, कला, संगीत, तकनीकी, राजनीती, अर्थशास्त्र, न्याय, विमान विद्या, युद्ध, अयुद्ध निर्माण, योग, यज्ञ एवं कृषि इत्यादि जो मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक होते हैं वे सभी पढ़ाये जाते थे।

प्रश्न :- गुरूकुल में पढ़ाई का समय क्या होता था ?

उत्तर :- गुरूकुल में पढ़ाई का समय सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक होता था।

प्रश्न :- गुरूकुल की समय व्यवस्था कैसी थी ?

उत्तर :- सामान्यतः प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर विद्यार्थीगण उठते थे, शौच आदि क्रिया से निवृत होकर ऊषा पान (तांबे के बर्तन का जल पीना) करते थे। फिर व्यायाम, स्नान, संध्या, प्राणायाम, अग्निहोत्र (यज्ञ) आदि के बाद भोजन करते थे। और फिर विद्या का अध्ययन आरम्भ होता था। जिसमें महत्वपूर्ण विषय आते थे। कक्षाओं में न पढ़ाकर वृक्षों के नीचे या प्राकृतिक वातावरण में पढ़ाया जाता था। सूर्यास्त के समय संध्या अग्निहोत्र आदि से निवृत होकर विद्यार्थी

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

रात्री का भोजन करके विश्राम करते थे । भोजन केवल दो बार ही मिलता था । क्योंकि मनुष्य को दीर्घायु के लिये दो समय ही भोजन करना उचित है ।

प्रश्न :- प्राचीन गुरुकुलों में शिक्षा का शुल्क क्या था ?

उत्तर :- प्राचीन काल में गुरुकुल शिक्षा निःशुल्क थी ।

प्रश्न :- गुरुकुलों का खर्च कैसे चलता था ?

उत्तर :- गुरुकुलों का खर्च ग्रामीणों के दान से और सरकार के द्वारा चला करता था ।

प्रश्न :- गुरुकुल कहाँ बनाये जाते थे ?

उत्तर :- गुरुकुल ग्रामों से दूर अरण्य (वन) में बसाये जाते थे ।

प्रश्न :- गुरुकुल केवल बालकों के ही होते थे या बालिकाओं के भी ?

उत्तर :- गुरुकुल बालकों और बालिकाओं के दोनो के हुआ करते थे । और दोनों के गुरुकुलों में दूरी कम से कम 12 कोस की हुआ करती थी ।

प्रश्न :- गुरुकुलों की शिक्षा का माध्यम क्या था ?

उत्तर :- गुरुकुलों की शिक्षा का माध्यम संस्कृत ही था और सदा संस्कृत ही रहेगा ।

प्रश्न :- भारत में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली कितनी पुरानी है ?

उत्तर :- भारत में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली आदिकाल से है । जब से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है ।

प्रश्न :- प्राचीन काल में भारत में कितने गुरुकुल थे ?

उत्तर :- यह समूचे भरतखंड की सीमा त्रिविष्टिप (तिब्बत) से लेकर सींहल द्वीप (श्रीलंका) , ब्रह्मदेश (म्यांमार) से लेकर काम्बोज (अफगानिस्तान) तक थी । तो हर गाँव में कम से कम एक गुरुकुल था, किसी में तो तीन भी पाये जाते थे, हम औसतन 2 मान कर चलें तो, भारत में करीब 18 लाख के गाँव थे । तो कुल योग हुआ 18 x 2 = 36 लाख कम से कम गुरुकुल आर्यवर्त की सीमाओं में पाये जाते थे । तो पूर्व से लेकर पश्चिम तक और उत्तर से लेकर दक्षिण में श्रीलंका तक करीब इतने वैदिक गुरुकुल थे जहाँ, बच्चे शिक्षा प्राप्त करते थे । इससे अधिक भी हो सकते हैं । परंतु इससे कम नहीं ।

प्रश्न :- कुछ प्रचीन विश्वविद्यालयों के नाम लिखें ।

उत्तर :- नालंदा विश्वविद्यालय , तक्षशिला विश्वविद्यालय, पाटिलीपुत्र, वल्लभीपुर आदि प्रसिद्ध हैं ।

प्रश्न :- आधुनिक काल में गुरुकुल की स्थापना कब, कहाँ हुई ? और किसने की ?

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

उत्तर :- आधुनिक काल में सर्व प्रथम हरिद्वार के कांगड़ी नामक गाँव में सन् 1902 में गुरुकुल की स्थापना स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती जी ने की थी।

प्रश्न :- राष्ट्र की खोई गरिमा कैसे वापिस आयेगी ?

उत्तर :- राष्ट्र की खोई गरिमा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की पुनः स्थापना करने से आयेगी।

प्रश्न :- गुरुकुल शिक्षा प्रणाली से शिक्षा प्राप्त किये महापुरुषों के नाम बतायें ?

उत्तर :- राम, कृष्ण, वशिष्ठ, कपिल, कणाद, भीष्म, गौतम, पतंजली, धनवंतरी, परशुराम, अर्जुन, भीम, द्रोण, याज्ञवलक्य, गार्गी, मैत्रेयी, द्रौपदी, अंजना आदि महान आत्मायें गुरुकुलों से ही हुई हैं।

गुरुकुल का आशय है

वह स्थान या क्षेत्र, जहां गुरु का कुल यानि परिवार निवास करता है। प्राचीन भारत में शिक्षक ही गुरु माना जाता था और उसका परिवार उसके यहां शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों से ही पूर्ण माना जाता था। जब किसी बालक के पहले गुरु का प्रश्न आया तो यहां की परंपरा ने कहा कि मां किसी भी नवजात की पहली शिक्षक है, उसके बाद पिता का स्थान तथा तीसरे स्थान पर उस स्त्री या पुरुष को रखा गया, जो कि बालक को उसके संपूर्ण जीवन को जीने के लिए मार्गदर्शन देता तथा उसे भावी जीवन की कठिनाइयों से संघर्ष करने व जीवन की संपूर्ण जटिलताओं से मुक्त रहते हुए आनंदमय जीवन जीने की शिक्षा देता है। इसीलिए उपनिषदों में लिखा गया कि मातृ देवो भव:, पितृ देवो भव:, आचार्य देवो भव:।

यही कारण है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारत के वांग्मय से लेकर अधुनातन तक में हमें इस गुरुकुल व्यवस्था के दिग्दर्शन होते हैं। गुरु की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए यहां तक कह दिया गया है कि गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु देवो महेश्वर, गुरु साक्षात् परमं ब्रह्मा तस्मै श्री गुरुवे नम:। अर्थात- गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है और गुरु ही भगवान शंकर है, गुरु ही साक्षात परब्रह्म है। ऐसे गुरु को मैं प्रणाम करता हूं। गुरु की महिमा का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि जिसे इस ब्रह्माण्ड का कारण और नियंता माना जाता है उसके समकक्ष गुरु को स्थान दिया गया है। इस गुरुकुल व्यवस्था की परंपरा हमें बताती है कि देश में शिक्षा प्रणाली की यह व्यवस्था कितनी अधिक श्रेष्ठ

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

थी, जिसमें कि शिक्षा के स्तर पर अमीर-गरीब का कोई भेद नहीं। श्री कृष्ण और बलराम गुरुकुल में उस ब्राह्मण बालक सुदामा के साथ शिक्षा ग्रहण करते हैं, जिसके पास कोई पारिवारिक संपत्ति नहीं होती। ऐसे एक नहीं, अनेक अनुपम उदाहरण गुरुकुल शिक्षा पद्धति के दिखाई देते हैं।

स्त्री और पुरुषों की समान शिक्षा को लेकर यह गुरुकुल कितने अधिक सक्रिय थे, इसके भी कई उदाहरण हैं। उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ पढ़ने वाली आत्रेयी नामक स्त्री का उल्लेख हुआ है। जो इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि सह-शिक्षा का प्रचार भारत में प्राचीनकाल से रहा है। इसी प्रकार मालती-माधव में भी भवभूति ने भूरिवसु एवं देवराट के साथ कामन्दकी नामक स्त्री के एक ही पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने का वर्णन किया है। भवभूति आठवीं शताब्दी के कवि हैं। भवभूति के समय भी बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा का प्रचलन अवश्य था। इसी प्रकार पुराणों में कहोद और सुजाता, रूहु और प्रमदवरा की कथाएं वर्णित हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कन्याएं बालकों के साथ-साथ पाठशालाओं में पढ़ती थीं तथा उनका विवाह युवती हो जाने पर होता था। यह प्रमाण इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषों के बीच रहकर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थीं। उस युग में सहशिक्षा-प्रणाली का अस्तित्व भी इनसे सिद्ध होता है। गुरुकुलों में सहशिक्षा का प्रचार था, इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह ससूत्र में वर्णित समावर्तन संस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि में स्नातक के अनुलेपन क्रिया के वर्णन में बालक एवं बालिका का समार्वतन संस्कार साथ-साथ सम्पन्न होना पाया जाता है।

ऋग्वेद में एक मंत्र है, जो कि यजुर्वेद में कर्मकाण्ड विषय के अंतर्गत पुरुष सूक्त में भी आया है, ब्राह्मणस्य मुखमासीद, बाहु राजन्य कृत:। उरु तदस्य यद्वैश्य:, पदभ्याम् शूद्रो अजायत। इस मंत्र के दो अर्थ बताए जाते हैं। पहला यह कि ब्राह्मण यज्ञ करने के लिए , क्षत्रिय युद्ध के लिए, वैश्य व्यापार के लिए और शुद्र सेवा कार्य के लिए हैं। किंतु वहीं ऋग्वेद में एक स्थान पर एक व्यक्ति कहता है कि मैं एक कवि हूं, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता चक्की चलाती है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों से जीविकोपार्जन करते हुए हम साथ-साथ रहते हैं, जैसे पशु अपने बाड़े में। यहां तात्पर्य यह है कि भले ही एक परिवार में रहने वाले सदस्यों की रुची अलग हो सकती है, फिर भी वह एक साथ रहते हैं। अर्थात, यही बात किसी समाज पर लागू होती है।

इस मंत्र का दूसरा अर्थ लगाया जाता है कि ब्रह्म का मुख है ब्राह्मण, भुजायें क्षत्रिय हैं, उदर भाग वैश्य तथा ईश्वर के पैर शुद्र हैं यानि कि इन वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्म के उक्त शरीर के स्थानों से हुई है। एक बार को यह बात

मान भी लें, तो स्पष्ट हो जाता है कि भारत की प्राचीन परंपरा तथा ज्ञान का चिंतन कितना अधिक श्रेष्ठ है, क्यों कि भारतीय ज्ञान परंपरा में समाज के सेवक को सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है। हिन्दू परंपरा में हमारे यहां जिन्हें सम्मान दिया जाता है, उनके पैर छूने का विधान है। जिस मस्तक को ब्राह्मण कहा गया है, वह पैरों में यानि शरीर की सेवा करने वाले शुद्र के लिए सदा झुका रहता है। इसीलिए प्राचीन गुरुकुल में वनों में रहने वाले, राजा के पुत्र या धनिक वर्ग अथवा समान्य व गरीब के बच्चे एक समान, एक पद्धति से बिना किसी भेद-भाव के शिक्षा ग्रहण करते हुए दिखाई देते हैं।

किंतु जब देश में अंग्रेजी राज आया और लॉर्ड मैकाले ने बाबू बनाने वाली तथा अंग्रेज भक्त भारतीयों के निर्माण के लिए आधुनिक शिक्षा के नाम पर अपनी वैचारिकी परोसने का काम किया, साथ में योजनाबद्ध गुरुकुलों का नाश किया। उस समय गुरुकुल शिक्षा पद्धति का मखौल उड़ाते हुए अंग्रेज परस्त और कम्युनिष्ट मित्र बढ़-चढ़ कर आगे आए थे। लेकिन अब उन्होंने भी जान लिया कि आधुनिकता कि नाम पर दी जाने वाली सिर्फ अंग्रेजी शिक्षा से योग्य और उत्तम पीढ़ियां नहीं बनाई जा सकती हैं। बिना संस्कार जोंड़े श्रेष्ठ संततियों का निर्माण नहीं होता है। चलो देर से ही सही देश के अंग्रेजी बौद्धिक वर्ग को यह बात समझ में तो आई। भारतीय चिंतन से प्रेरित बौद्धिक वर्ग तो कब से यह मांग कर रहा है कि विद्यालयीन और महाविद्यालयों में गुरुकुल जैसी श्रेष्ठ परंपरा को जोड़ने के प्रयास शुरू किए जाएं।

अच्छा है कि कम से कम उच्च शिक्षण संस्थानों में विद्यार्थियों के मन में घर कर रहे तनाव, चिंता, गृह विरह और उम्दा अकादमिक प्रदर्शन के दबाव में आत्महत्या की प्रवृत्ति पर काबू पाने की ठोस कोशिशें आरंभ कर दी गई हैं। निश्चित ही जब विश्वविद्यालयों के छात्रों पर पुरातन गुरुकुल व्यवस्था की तर्ज पर शिक्षक की नजर रहेगी तथा कक्षा से बाहर विद्यार्थी की शैक्षणिक -गैर शैक्षणिक समस्याओं के निदान के लिए एक शिक्षक मार्गदर्शक के रूप में उपलब्ध होगा, तब अवश्य ही देश में शिक्षा के वातावरण में आमूलचूक सुधार आएगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ने सभी केंद्रीय विश्वविद्यालयों को उच्चतर शैक्षिक संस्थानों के परिसरों में तथा दूरस्थ परिसरों में छात्रों की सुरक्षा संबंधी जो दिशा-निर्देश दिए गए हैं, उन्हें हम इस रूप में देख सकते हैं। फिलहाल इसके अंतर्गत पच्चीस विद्यार्थियों के एक दल की जिम्मेदारी एक शिक्षक को दी जा रही है। शिक्षक छात्रों की चिंता, असफलता, गृह विरह तथा अकादमिक चिंताओं से उबारेंगे।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से विश्वविद्यालय व उच्च शिक्षण संस्थानों में लागू की जा रही इस व्यवस्था के तहत छात्रों को उपलब्ध कराए जाने वाले शिक्षक परामर्शदाता को संरक्षक के तौर पर भी सक्रिय बने रहने का प्रशिक्षण दिया जाने वाला है। शिक्षक न सिर्फ विद्यार्थियों की हरसंभव मदद के लिए तत्पर रहेगा, बल्कि अभिभावकों से भी विद्यार्थियों से जुड़े विभिन्न विषयों पर चर्चा करेंगे। वस्तुतः आज विश्वविद्यालय स्तर पर इस तरह की प्राचीन गुरुकुल व्यवस्था की आशिंक ही सही, जरूरत इसलिए भी पड़ी है, क्योंकि बेहतर प्रदर्शन के दबाव व अन्य समस्याओं के कारण पिछले कई वर्षों में विद्यार्थियों द्वारा आत्महत्या करने की घटनाएं तेजी से घट रही हैं। निश्चित ही जिसे देखकर हम कह सकते हैं कि बदलते वक्त की मांग है गुरुकुल व्यवस्था।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) ने जो यह पहल की है, आज उसके इस कदम को हर दृष्टिकोण से सराहनीय माना जायेगा। यूजीसी की ओर से लागू की जा रही व्यवस्था में एक शिक्षक पर पच्चीस छात्रों की जिम्मेदारी रहेगी। शिक्षक मार्गदर्शक की भूमिका अदा करेगा और इसका सीधा असर विद्यार्थी के प्रदर्शन पर पड़ेगा। वस्तुतः होना तो यह बहुत पहले ही जाना था, लेकिन कोई बात नहीं, चलो देर से ही सही शिक्षा के भटकाव के मार्ग में सुधार आना तो शुरू हुआ। आशा की जाए कि आने वाले दिनों में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की सरकार शिक्षा क्षेत्र से जुड़े मसलों पर और अच्छे दिन दिखलाएगी।

इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रख कर हमने ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान वैदिक विश्वविद्यालय की स्थापना प्रकृती के मनोरम स्थान विनध्य पर्वत की घाटी मिर्जापुर में की है जहां वैदिक शिक्षा व्यवस्था का एक बार नये सिरे से जीर्णोद्धार करने के लिए और सम्पूर्ण मानव को आर्य बनाने के लिए, जैसा की वेद स्वयं कहते कृणवन्तोविश्वमार्यं सारे संसार को श्रेष्ट आर्य बनाने के लिए सारे ससंकृतियों की मुल विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्, अर्थात जो संपूर्ण मनुष्यों के स्विकारने योग्य है उसके विस्तार और जनमानस के कल्याण के लिए कृतसंकल्पित है।

गीता उपदेशामृत

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

जो मनुष्य, परम कल्याण जिसका फल है ऐसे इस कृष्णार्जुन – संवाद रूप अत्यंत गोप्य गीता ग्रन्थ को मुझमें भक्ति रखने वाले भक्तों में सुनाएगा – ग्रन्थरूप से या अर्थरूप से स्थापित करेगा। कैसे सुनाएगा ? मुझमें पराभक्ति करके, अर्थात परमगुरु भगवान् की मैं सेवा करता हूँ ऐसा समझ कर जो इसे सुनाएगा उसका यह फल है कि वह मुझे ही प्राप्त हो जाएगा – इसमें संशय नहीं करना चाहिए।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

इस गीता शास्त्र की परम्परा चलाने वाले भक्त से बढ़ कर, मेरा अधिक प्रिय कार्य करने वाला, मनुष्यों में कोई नहीं है। अर्थात वह मेरा अतिशय प्रिय करने वाला है, वर्तमान मनुष्यों में उससे बढ़ कर प्रियतम कार्य करने वाला और कोई नहीं है, तथा भविष्य में भी इस भूलोक में उससे बढ़ कर प्रियतर कोई दूसरा नहीं होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

जो मनुष्य हम दोनों के संवादरूप इस धर्मयुक्त गीता ग्रंथ को पढ़ेगा, उसके द्वारा यह होगा कि मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा। यह फल विधि है यानी इसका फल देवता विषयक ज्ञानयज्ञ के समान होता है। उस अध्ययन से मैं ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजित होता हूँ, ऐसा मेरा निश्चय है।

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

जो मनुष्य, इस ग्रन्थ को श्रद्धायुक्त और दोष दृष्टि रहित होकर केवल सुनता ही है, वह भी पापों से मुक्त होकर, पुण्यकारियों के अर्थात अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कर्म करने वालों के, शुभ लोकों को प्राप्त हो जाता है। ‘अपि’ शब्द से यह पाया जाता है कि अर्थ समझने वालों की तो बात ही क्या है !

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय – 18, श्लोक – 68 से 71)

ज्ञानयज्ञ का क्या अर्थ है ?? मन और बुद्धि को केंद्रित करके गीता पढ़ना यानी अध्ययन करना यज्ञ है। इस प्रकार अध्ययन करने से विषय का समझ में आना ज्ञान है। भगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि इस प्रक्रिया से मैं पूजित होता हूँ। अर्थात इस प्रकार से गीता के अध्ययन मात्र से पाठक द्वारा मेरी पूजा हो जाती है।

आज कल ‘अष्टावक्र गीता’ काफी चर्चा में है। इसके पठन – पाठन का प्रचार और प्रसार जोर – शोर से किया जा रहा है। प्रचार माध्यमों में टी वी चैनल भी शामिल है। इसका बाजारीकरण आरम्भ हो गया है। इसे श्रीमद्भगवद्गीता से किसी भी प्रकार कम नहीं बताया जा रहा है।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

'श्रीमद्भगवद्गीता' भगवान् द्वारा गाया गीत है जबकि 'अष्टावक्र गीता' एक मनुष्य द्वारा गाया गीत है।जिस प्रकार विश्व के सर्वश्रेष्ठ बाँसुरी वादक की तुलना क्या कल्पना भी भगवान् के बाँसुरी वादन से नहीं की जा सकती है। ठीक उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के द्वारा भी गाए गीत से भगवान् के द्वारा गाए गीत की तुलना / कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

अष्टावक्र गीता के प्रचारकों की ओर से एक प्रश्न आया है – ज्ञान/विद्या कहीं से भी प्राप्त हो, इसमें बुरा क्या है? उत्तर है – श्रीमद्भगवद्गीता प्रमाण है जबकि अष्टावक्र गीता प्रमाण "नहीं" है। और जो प्रमाण है वही ज्ञान/विद्या है शेष सभी अज्ञान/अविद्या है! समान परिश्रम और समय लगा कर श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन से भगवान् की पूजा सम्पन्न होती है ; जबकि अष्टावक्र गीता के अध्ययन से देव भी पूजित नहीं होते हैं। स्वयं विचार करें !

श्रीमद्भगवद्गीता का एक भी पृष्ठ खोलते ही आप सीधे भगवान् से जुड़ जाते हैं। आप होते हैं और भगवान् होते हैं, उनकी वाणी होती है।भगवान् स्पष्ट कह रहे हैं – श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन, वाचन, श्रवण अर्थात इस गीता शास्त्र की परम्परा चलाने वाले भक्त से बढ़ कर, मेरा अधिक प्रिय कार्य करने वाला, मनुष्यों में कोई नहीं है। ऐसे गीता शास्त्र – परम्परा को चलाने वाले भक्त भगवान् को अवश्य प्राप्त होते हैं – यह भगवान् का वचन है।

योग किया नहीं जाता, जीया जाता है

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥

प्रलपन्विसृजन्गृÖन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

वर्तमान समय में योग एक बहुत प्रचलित शब्द है, परन्तु अपने अर्थ से बहुत दूर चला गया है। योग के सहयोगी शब्दों के रूप में समय-समय पर कुछ शब्दों का प्रयोग होता रहता है- योगासन, योग-क्रिया, योग-मुद्रा आदि। इसी प्रकार कुछ अलग-अलग क्रियाएँ, जिनसे प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है, उनका भी योग नाम दिया गया है- राजयोग, मन्त्रयोग, हठयोग आदि। इनसे परमात्मा की प्राप्ति होना अलग-अलग ग्रन्थों में बताया गया है। मूलत: योग शब्द का अर्थ जोडऩा है। जोडऩा गणित में भी होता है, अत: संख्याओं के जोडऩे को योग कहते हैं। जिस कार्य से प्रयोजन की सिद्धि न हो, उसे वह नाम देना निरर्थक है। योग में किसी से जुड़ने का भाव अवश्य है। हम समझते हैं, योग प्रात:काल-सायंकाल करने की चीज है। योग चाहे आसन के रूप में किये जायें, चाहे साधना के रूप में। आसन के रूप में योगासन स्वास्थ्य के लिए किये जाते हैं, किन्तु पूरे दिन स्वास्थ्य-विरोधी आचरण करते हुए योगासन करके कोई स्वस्थ नहीं हो सकता, क्योंकि प्रात:काल-सायंकाल योगासन करके शरीर को सक्रिय तो कर लिया, परन्तु भोजन और विश्राम के द्वारा ऊर्जा का संग्रह किया जाता है। भोजन, विश्राम यदि ठीक नहीं तो आसन व्यर्थ हो जाते हैं। व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि से तो तन्त्र को दृढ़ता और सक्रियता प्रदान की जाती है। उसी प्रकार योग-साधना का प्रयोजन परमेश्वर से मिलना है, उससे जुडऩा या उस तक पहुँचना है। यदि योग परमेश्वर तक पहुँचने के उपाय का नाम है, तो विचार करने

की बात यह है कि उस परमेश्वर की प्राप्ति का यत्न तो प्रात:काल सायंकाल घण्टा-दो-घण्टा किया जाये, उससे दूर होने के काम सारे दिन किये जायें तो कल्पना कर सकते हैं कि हम कब तक परमेश्वर को मिल सकेंगे? यह तो ऐसा हुआ जैसे प्रात:काल-सायंकाल अपने गन्तव्य की ओर दौड़ लगाना और दिनभर उसके विपरीत दिशा में दौड़ना। ऐसा व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर तक भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार पूरे जीवन प्रात:-सायं सन्ध्या, योग करते रहने वाला कभी भी परमेश्वर तक नहीं पहुँच सकता, क्योंकि वह उद्देश्य की ओर थोड़े समय चलता है, उद्देश्य के विपरीत अधिक समय चलता है। ऐसा व्यक्ति लक्ष्य से दूर तो हो सकता है, परन्तु लक्ष्य तक कभी भी नहीं पहुँच सकता। योग परमेश्वर तक पहुँचने का उपाय है, तो यह कार्य कुछ समय का नहीं हो सकता। जैसे कोई व्यक्ति यात्रा पर निकलता है, तो सभी कार्य करते हुए भी उसकी यात्रा, उसी दिशा में निरन्तर आगे-आगे बढ़ती रहती है। मार्ग में वह सोता है, खाता है, बात करता है, किन्तु उसकी न तो यात्रा की दिशा बदलती है, न यात्रा पर विराम लगता है और वह देरी से या जल्दी गन्तव्य तक पहुँच ही जाता है। इसी कारण वेदान्त दर्शन में साधना कब तक करनी चाहिए- इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है- आ प्रायणात्तत्रापि दृष्टम्। लक्ष्य की प्राप्ति तक साधना करने का विधान किया गया है, अत: योग केवल प्रात:काल-सायंकाल की जाने वाली क्रिया नहीं है। यह जीवनरूपी यात्रा है, जिसका प्रयोजन परमेश्वर तक पहुँचना या उसे प्राप्त करना है। यह यात्रा तब तक समाप्त या पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाये। यह जीवन-यात्रा कैसे सम्भव है? इसको बताने वाले अनेक शास्त्र हैं, परन्तु योगदर्शन इसका सबसे अधिक व्यवस्थित, उपयोगी एवं सरल शास्त्र है। इस सारे योगदर्शन को संक्षिप्त किया जाये, तो तीन सूत्रों में बाँधा जा सकता है, शेष शास्त्र तो इन सूत्रों का व्याख्यान है। प्रथम योग कैसे होता है, यह सूत्र में कहा गया है- योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:। चित्त की वृत्तियों के निरोध-अवरोध करने का नाम योग है। जब चित्त की वृत्तियाँ अर्थात् उनका बाह्य व्यापार रुक जाता है, तो प्रयोजन की प्राप्ति हो जाती है। अगले सूत्र में बतलाया गया है, वह प्रयोजन क्या है, जो चित्त के बाह्य व्यापार को रोकने से सिद्ध होता है? तो पतञ्जलि मुनि कहते हैं- तदा द्रष्टु: स्वरूपे अवस्थानम्। चित्त का कार्य ही आत्मा को संसार से जोड़ना है, जब उसे संसार से जोड़ने के काम से रोक दिया जाता है तो वह बाहर के व्यापार को छोड़ कर भीतर के व्यापार में लग जाता है। उसके भीतर का व्यापार आत्मदर्शन कहलाता है, जब वह स्वयं में स्थित होता है तो अपने में स्थित परमात्मा का भी उसे सहज साक्षात्कार होता है, अत: योग परमात्मा के साक्षात्कार करने का नाम है। जब हमारा चित्त हमारी आत्मा में नहीं होता तो निश्चित रूप से विपरीत दिशा में लगा होता है। क्योंकि मन एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं रहता, अत: मनुष्य के सोते, जागते, वह कार्य में लगा रहता है, तब यदि वह अन्तर्मुखी नहीं होगा तो निश्चित रूप से बहिर्मुखी होगा। उसी को बताने के लिये पतञ्जलि मुनि ने सूत्र बनाया है- वृत्तिसारूप्यमितरत्र चित्त की वृत्तियों का निरोध न करने की दशा में चित्त सांसारिक व्यापार में ही लगा रहता है। यह स्वाभाविक और अनिवार्य है। योग एक यात्रा है, जो जीवन के प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए की जाती है। इस योग को समझने के लिए एक और विधि हो सकती है। संक्षेप में योग क्या है- जैसे एक शब्द में योग को समझाना हो तो कैसे समझा जाये? एक शब्द में योग को जानना हो तो वह शब्द है- ईश्वरप्रणिधान। प्रणिधान शब्द का अर्थ है- समर्पण। जब कोई साधक सिद्ध बन जाता है, अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, तब वह ईश्वर के प्रति अपना समर्पण कर देता है। जब व्यक्ति में समर्पण आता है, तब उसे अपना कुछ भी पृथक् रखने की इच्छा नहीं रहती, सब कुछ उसे उसका ही लगता है, जिसके प्रति वह समर्पित होता है। इसकी व्याख्या करते हुए व्यास जी कहते हैं- ऐसे साधक के कर्मों में- ईश्वरार्पणं तत्फलसंन्यासो वा, जैसे वह या तो स्वामी से पूछ कर कार्य करता है, उसके आदेश का पालन करता है और स्वयं कोई कार्य करता है तो उसे स्वामी के अर्पण कर देता है अर्थात् किये हुए कार्य के फल की इच्छा नहीं करता। ईश्वर और उसके मध्य स्वामी-सेवक का सम्बन्ध होता है, जैसे- श्रेष्ठ सेवक सदैव स्वामी को प्रसन्न करना चाहता है, सदा स्वामी के हित साधन में तत्पर रहता है, उसी प्रकार उपासक अपने उपास्य को प्रसन्न करने में तत्पर रहता है। स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करता है, आज्ञा पालन कर प्रसन्न होता है, अपने को धन्य समझता है, कृत-कृत्य मानता है। ईश्वरप्रणिधान का महत्त्व समझने के लिये योगदर्शन के सूत्रों पर चिन्तन करना अच्छा रहता है। सूत्रों पर विचार करने से पता लगता है कि योग के अंगों में

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द ईश्वरप्रणिधान है। योग दर्शन में साधना, समाधि की सिद्धि के बहुत सारे उपायों में पहला मुख्य उपाय बताया है, ईश्वरप्रणिधान। पतञ्जलि ने सूत्र लिखा है- समाधिसिद्धिरीश्वर- प्रणिधानात्- ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्ध हो जाती है। व्यास कहते हैं- ईश्वरप्रणिधान से परमेश्वर प्रसन्न होकर तत्काल उसे अपना लेता है। कुछ विस्तार से योग समझाते हुए योगदर्शन के दूसरे पाद में, जिसे साधन पाद कहा गया है, उसमें क्रिया योग और अष्टांग योग का व्याख्यान किया है। इन दोनों स्थानों पर ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख किया गया है। क्रिया योग का पहला सूत्र है- तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रिया योग के तीन अङ्ग हैं। इसी प्रकार अष्टांग योग में सर्वप्रथम यम-नियमों की चर्चा की गई है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। इन आठ अंगों में प्रथम दो हैं- यम और नियम। यम हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम हैं- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। इस प्रकार नियमों में अन्तिम है- ईश्वरप्रणिधान। विस्तार से जब योग का कथन किया जाता है तो उसे अष्टांग योग कहते हैं। इसमें भी ईश्वरप्रणिधान है। कुछ कम विस्तार से योग के अंग बतलाये गये हैं- तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। इसमें भी ईश्वरप्रणिधान है तथा समाधि पाद में एक शब्द में जब योग की बात की गई है तो भी कहा गया- समाधिसिद्धिरीश्वर- प्रणिधानात्। अर्थात् एक शब्द में योग ईश्वरप्रणिधान है। यही उपासना है। उपासना का अर्थ समझने के लिए उपनिषद् में एक सुन्दर दृष्टान्त आया है। वहाँ कहा गया है- जैसे भूखे बच्चे माँ की उपासना करते हैं, उसी प्रकार देवता अग्निहोत्र की उपासना करते हैं। उपासना ऐच्छिक नहीं है, जब इच्छा हुई की, जब इच्छा हुई नहीं की। समय मिला तो कर ली, नहीं समय मिला तो नहीं की। उपासना एक आन्तरिक भूख है, एक आवश्यकता है, जिसे पूरा किये बिना रहा नहीं जा सकता। एक भूख से पीड़ित बालक को माँ की जितनी आवश्यकता लगती है, उतनी ही तीव्र उत्कण्ठा एक उपासक के मन में उपास्य के प्रति होती है। तब उपासना सार्थक होती है। मनुष्य जिससे प्रेम करता है, जिसे चाहता है उसके निकट रहना चाहता है, उसी प्रकार परमेश्वर को उपासक अपने निकट देखना चाहता है। सदा अपने प्रिय की निकटता की इच्छा करना ही उपासना है। जनसामान्य के मन में उपासना करने को लेकर बहुत संशय रहता है। उपासना कैसे प्रारम्भ की जाये, चित्त की वृत्तियों को कैसे रोका जाये, मन परमेश्वर में कैसे लगे आदि-आदि। जो लोग उपासना के अभ्यासी हैं, उनके अनुभव नवीन साधक के लिये उपयोगी हो सकते हैं। जहाँ तक मन को एकाग्र करने का प्रश्न है, मन कभी खाली नहीं रहता, उसकी रचना प्रकृति से हुई है, अतः वह स्वाभाविक रूप से सांसारिक विषयों की ओर दौड़ता है। उसे हम रोकना चाहते हैं, वह रुकने का नाम नहीं लेता। ऐसी परिस्थिति में मन को नियन्त्रित करने का सरल उपाय है- अपने पूर्व कार्यों का चिन्तन करना। इसमें प्रतिदिन प्रातः-सायं अपने दिनभर, रातभर के कार्यों पर विचार करने का विधान तो है ही, यदि दिन में जब भी खाली समय मिले, अपने पिछले कार्यों के विचार में मन को लगाया जाये, तो मन सरलता से अपने कार्यों पर विचार करने में व्यस्त हो जाता है। आज के, कल के, सप्ताह के या मास के कार्यों पर चिन्तन करते-करते मन अनायास ही उपासक के नियन्त्रण में हो जाता है। मन अपेक्षा करने लगता है कि उसे किसी कार्य में लगाया जाये, उसी समय मन को वाञ्छित कार्य में लगाया जा सकता है। उपासना की सफलता और उपासना में गति लाने के कई सरल नियम हैं, उनमें उपासना के लिए स्थान और समय का निश्चित करना भी आता है। निश्चित स्थान और निश्चित समय उपासक को उपासना के लिये प्रेरित करते हैं। उपासना में बैठने के बाद आसन को सहज भाव से बिना बदले उपासक कितने समय बैठ सकता है, यह महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः आसन में इन्द्रियों को एकाग्र करने में सबसे सहयोगी क्रिया यही है कि उपासक कितनी देर तक आँखें बन्द करके बैठ सकता है? इन सामान्य बातों से उपासना में रुचि और गति दोनों बढ़ती हैं। अब हमारी समझ में आ सकता है कि योग केवल प्रातःकाल और सायंकाल किया जाने वाला व्यायाम नहीं, अपितु चौबीस घण्टे आनन्द में रमण करने का नाम है। जब हम जागते हुये, प्रातःकाल के समय ब्रह्ममुहूर्त में सन्ध्या करते हैं, तब आँख बन्द करके योग करते हैं। सूर्योदय के समय सबके साथ बैठकर घी, सामग्री, समिधा से अग्निहोत्र करते हैं, यह भी उपासना है। अग्निहोत्र के लाभ बतलाते हुए ऋषि दयानन्द कहते हैं- यज्ञ में मन्त्रों के पढने से परमेश्वर की उपासना भी होती है। हम कह सकते हैं- यह आँख खोलकर अग्निहोत्र करना उपासना ही है। इसी प्रकार चौबीस घण्टे के व्यवहार में भी

उपासना होनी चाहिए, तब उपासना क्या होगी? तब उपासना यम-नियम का पालन करना, दुकान करना, खेती करना, मजदूरी करना, नौकरी करना, सब कुछ उपासना होगी। उस समय यम-नियमों का पालन हो रहा होगा। इस प्रकार अकेले उपासना करना सन्ध्या है, परिवार के साथ उपासना करना अग्निहोत्र है और पूरे दिन सबके साथ, सभी प्रकार का व्यवहार यम-नियम पूर्वक करना सार्वजनिक उपासना है। यही योग है। सामान्यजन की धारणा रहती है कि मुक्ति तो परमेश्वर की वस्तु है, वह उसकी कृपा व उसकी उपासना से मिलती है। यह बात सब लोग मानते और समझते हैं परन्तु संसार के विषय में ऐसा समझते हैं कि यह ईश्वर की वस्तु नहीं है या उससे विपरीत वस्तु है, इसीलिए संसार की वस्तुओं को पाने के लिए हम ईश्वर के विपरीत चलना आवश्यक मानते हैं। जबकि सच तो यह है कि संसार भी उसी ईश्वर का है जिसकी मुक्ति है, फिर जिस योग की साधना से ईश्वर मुक्ति देता है, वही ईश्वर योग की साधना करने से संसार के सामान्य सुख से वञ्चित क्यों रखेगा? योग संसार से होकर मुक्ति तक जाने का मार्ग है, इसलिए संसार का सुख भी बिना योग के मिलने की कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार संसार योग का विरोधी नहीं, योग की प्रयोगशाला है। योग जीवन की यात्रा है, इसमें कभी गति तीव्र होती है, कभी मध्यम और कभी मन्द। इतना ही सब उपासना काल के बीच अन्तर है। इसी भाव को कृष्ण जी ने गीता के निम्न श्लोकों में कहा है-

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥

प्रलपन्विसृजन्गृöन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

हम प्राण चेतना से परिपूर्ण हों!

हमारी जीव चेतना में प्राण की एक सीमित मात्रा ही भरी हुई है जिसके द्वारा जीवन का दैनिक व्यापार चलता है। भौतिक सफलताओं एवं आत्मिक विभूतियों की अतिरिक्त उपलब्धि के लिए हमें आँतरिक प्राण संपदा की मात्रा क्रमशः बढ़ानी पड़ती है और इसके लिए विराट ब्रह्माण्ड में विपुल परिमाण में संव्याप्त प्राणशक्ति से संबंध जोड़ना पड़ता है।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

ब्रह्माण्ड एक ऐसा विराट सागर है जिसमें प्राणतत्व हिलोरे ले रहा है। पिण्ड सत्ता जीव सत्ता में समाहित प्राणतत्व को आत्माग्नि कहा जा सकता है और ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राण को ब्रह्माग्नि। आत्माग्नि लघु है तो ब्रह्माग्नि विभु। ठीक इसी प्रकार आत्माग्नि में ब्रह्माग्नि का अनुदान सतत् पहुँचते रहना आवश्यक है। जिस साधना प्रक्रिया द्वारा इस प्रयोजन की पूर्ति होती है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम अर्थात् प्राण का आयाम जोड़ने की, प्राणतत्व संवर्धन की एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें जीवात्मा का क्षुद्र प्राण-विराट चेतना के महाप्राण से जुड़कर उसी के समतुल्य बन जाय। विराट चेतना से जुड़ने और पूर्णता प्राप्त करने का यही राजमार्ग है।

यों तो "डीप ब्रीदिंग" अर्थात् गहरी साँस लेने को आरोग्यवर्धक बताया गया है। इससे फेफड़ों को अधिक ऑक्सीजन मिलती है जो स्वास्थ्य संतुलन एवं संवर्धन में सहायक सिद्ध होती है, पर अध्यात्म विज्ञान में जिस प्राणायाम की चर्चा की जाती है, वह शरीर शास्त्रियों की प्रचलित डीप ब्रीदिंग से भिन्न होती है। गहरी साँस से अतिरिक्त ऑक्सीजन मिलने और स्वास्थ्य संवर्धन का मात्र शारीरिक स्थूल प्रायोजन पूरा होता है, पर यौगिक प्राणायामों से ब्रह्माण्ड व्यापी प्राण तत्व का असाधारण लाभ भी मिलता है।

वस्तुतः प्राणायाम में साँस की गति में असामान्य व्यतिक्रम निर्धारित है। इसमें घर्षण का असामान्य क्रम उत्पन्न होता है और उसकी प्रक्रिया जीवन निर्वाह की आवश्यकता पूरी करने से आगे बढ़कर शरीर में विशेष हलचलें उत्पन्न करती है। दाँये-बाँये नासिका स्वरों से चलने वाले विशेष प्रकार के मेरुदण्ड के इड़ा, पिंगला विद्युत प्रवाह को उत्तेजित करती है, वे असामान्य हलचलें ऐसे प्रसुप्त संस्थानों को जगाती हैं जो सामान्यता निर्वाह क्रम में तो आवश्यक नहीं होते पर जाग्रत होने पर मनुष्य में विशेष स्तर की अतिरिक्त मात्रा में विशेष क्षमता प्रदान करते हैं। प्राणायाम साँस की गति को तीव्र करना नहीं, उसे तालबद्ध और क्रमबद्ध करना है। इस ताल-लय और क्रम के हेर-फेर के आधार पर ही अनेक प्रकार के प्राणायाम बने हैं और उनके विविध प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के उपयोग होते हैं।

प्राणायाम का विधान सरल भी है और कठिन भी। सरल प्राणायाम यह है कि गहरी साँस ली जाय और पूरे फेफड़े खाली करके उसे बाहर निकाला जाय। साँस खींचते समय विश्व प्राण के अपने भीतर प्रवेश करने और स्थिर होने की भावना की जाय और निकालते समय भावना की जाय कि दुर्बलता, रुग्णता एवं अनैतिकता के सभी तत्व निकल कर बाहर जा रहे हैं और वे फिर कभी लौटने वाले नहीं हैं। यह एक प्राणायाम हुआ, यह न्यूनतम तीन बार किया जाय और फिर प्रति सप्ताह उसे एक-एक की संख्या में बढ़ाते चला जाय।

स्मरण रहे मात्र गहरी साँस लेना-छोड़ना ही प्राणायाम नहीं है। उसके साथ संकल्प, भावना और दृढ़ विश्वास भी जुड़ा रहना चाहिए। इस प्रकार अपने में प्राण तत्व की मात्रा निरन्तर बढ़ाई जाय। उसे निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त अनुभव किया जाय और खींचते समय तदनुरूप भावना की जाय। उसे इसी आकर्षण से साँस में प्राण तत्व की अधिक मात्रा अंतरिक्ष से खींचती और घुलती चली आती है। इस प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास क्रम की विशेष प्रक्रिया और साधक की संकल्प शक्ति का समावेश होने से वह सामान्य साँस लेना न रहकर विशिष्ट ऊर्जा की उपलब्धि का विशेष आधार बन जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राणतत्व का विधिवत् आकर्षण और अवधारण किया जा सके तो ओजस तत्व उभर कर ऊपर आता है और साधक को मनस्वी, तेजस्वी एवं ओजस्वी बनने का अवसर मिलता है। भौतिक सिद्धियों एवं आत्मिक क्षेत्र की ऋद्धियों के उन्नयन का आधार प्राण प्रखरता का संपादन ही है।

संस्कृत वाङ्ग्मय में यमों के अंतर्गत अहिंसा का स्वरूप

मानव जीवन के साथ ही दैवी और आसुरी वृत्तियों का संघर्ष समारंभ से चला आ रहा है। जीवन -संग्राम में आसुरी वृत्तियों के विजय होने पर क्लेशों का समुद्र उमड़ पड़ता है। यह क्लेश मानव को काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि विविध रूपों में व्यथित करते हैं। इन के वशीभूत होकर मनुष्य जब अन्य प्राणियों को कष्ट देने के लिए संनद्ध होता है तो उस वृत्ति का ही नाम "हिंसा" है। परंतु साधक जब आसुरी वृत्तियों की प्रबल विरोधिनी सेनाओं के द्वारा दैवी वृत्तियों को विजयी बना लेता है, तो दैवी वृत्तियों के विशाल साम्राज्य में सात्विकता, शांति, श्रद्धा, प्रेम, उत्साह आदि आध्यात्मिक सुखद राज्यों की स्वतः स्थापना हो जाती है। इन्हीं दैवी वृत्तियों की जननी एवं कोशिका वृत्ति का नाम है अहिंसा।

आसुरी (हिंसात्मक) वृत्तियां साधक को विविध कष्टों से दुखित करने के साथ ही अध्यात्म- प्रसाद से वंचित रखती हैं, अतः श्रुति भगवती को कल्याण भावना से शिक्षा देती है कि सोम स्वरूप परमेश्वर को चाहने वाले साधकों तुम किसी की हिंसा मत करो। हिंसा न करने का हेतु बताते हुए आगे कहा है- हिंसक वृत्ति वाला व्यक्ति मोक्ष रूपी अनुपम संपदा को कदापि पा नहीं सकता। इसके विपरीत जो अन्याय अनीति से स्वार्थवश किसी की हिंसा नहीं करते, वही धर्मात्मा, शक्तिशाली होकर निर्भयता से विजय पाते हैं, अतः वेद का संदेश है कि योगाभिलाषी अहिंसा का पालन करें, अन्य राजपुरुष आदि उनकी रक्षा करते हुए अहिंसा-वृति का आचरण करें।

हिंसा का निषेध

वेदों में हिंसा न करने तथा अहिंसा का परिपालन करने के विषय को अतिसूक्ष्मता एवं व्यापकता से प्रस्तुत किया गया है। साधना के लिए उद्यत साधक जब गंभीरता से दृष्टिपात करता है तो उसे सारा प्राणि-जगत हिंसा से परिपूर्ण, जीव ही जीव का घातक दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में जीव, जीव का भोजन बना हुआ है, सबल निर्बल को ही खा रहा है, पीड़ा दे रहा है, दुखित कर रहा है। ये दुखित करने की भावनाएं गुण-कर्म तथा स्वभाव में आ चुकी हैं। इनसे मानव स्वयं दुखी है और दूसरों को भी कष्ट देने के लिए तैयार रहता है। इस अवस्था में सुख कहां ? साधक यह विचार कर सर्वप्रथम इन दुरितों को दूर करने की प्रार्थनाएं करता है कि- हे सविता देव ! हमारे संपूर्ण दुर्गुण दुर्व्यसन और दुखों को दूर कर दीजिए। हे इंद्र हिंसा कराने वाले काम, क्रोध द्वेष आदि के अधीन हमें ना होने दीजिए। द्वेष की भावना ही सब प्रकार की हिंसा की मूल है, इनके विनष्ट हुए बिना साधक आगे बढ़ नहीं सकता, इसलिए विनम्र हो पुनः निवेदन करता है- प्रभु आप संपूर्ण देश युक्त कर्मों को हम से पृथक कर दीजिए। हिंसा से पृथक रहने की अवस्था तभी आती है जब मनुष्य हिंसा के दुष्परिणामों को भली-भांति जान लेता है। क्योंकि पहले अज्ञान एवं कुसंगवश दुष्कर्मों में फंस जाता है, पुनः उनसे छुटकारा पाना कठिन समझकर परमेश्वर से विनय करता है, साथ ही लोक में अपने से वरिष्ठ विद्वानों से प्रार्थना करता है कि- विद्वान पुरुषों ! अत्याचार करनेवाले, दान ना देने वाले तथा दुख देने वाले द्वेषभावों को हमसे दूर करके कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो। हिंसा करना तो दूर रहा, वैदिक साधक तो हिंसक का संसर्ग भी नहीं चाहता। उसकी सदा यह भावना रहती है कि जैसे विद्वान लोग हिंसा रहित मित्र के घर जाते रहते हैं, उन्हीं का अनुसरण मैं करूं। द्वेष ही हिंसा का जनक है, द्वेषी व्यक्ति योग मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। अद्वेषि होना योगी की प्रथम पहचान है। वेद का दृढ सिद्धांत है कि अद्वेषि ही परमात्म प्रसाद को पा सकता है। अतः वेदों में द्वेष युक्त कर्म तथा द्वेष त्याग की भावना से ओतप्रोत अनेक ऋचाएं मिलती हैं। ऐश्वर्याभिलाषी साधक मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद एवं लोभ इन छह राक्षसी वृतियों को क्रमसः उल्लू, भेड़िया, कुत्ता, चकवा या कबूतर, गरुण और गिद्ध की दुर्वृतियों वाला जानकर पत्थर से पीसने के समान समूल मसल दे। अर्थात आगे से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से, सब ओर से ऐसे राक्षसी भावों को सर्वथा समाप्त कर दे।

हिंसा से बचने के उपाय

वैदिक संहिताओं में हिंसा, अहिंसा विषय के विधि और निषेध पर मंत्र मिलते हैं। वेद के रहस्य में गुढ तत्वों को विद्वान योगी ही भली भांति हृदयंगम कर सकता है। वैदिक अहिंसा के मूल में सदा प्राणियों के अवैध व्याघात का अभाव जन कल्याण की भावना तथा ईश्वरीय न्याय व्यवस्था विद्यमान हैं। वेद का संकेत है कि- ऐसा साधक, ईश्वर के सर्वोकारक मार्ग से कभी पृथक न हो। हिंसा रहित श्रेष्ठ कर्म योग यज्ञ का अनुष्ठान करता रहे तथा अपने अंदर शत्रुता की भावनाओं को तथा दान न देने की भावनाओं को ठहरने ना दे ।

राजा तथा राज पुरुषों का कर्तव्य है कि अहिंसा व्रत सेवी योगी पुरुषों की सब प्रकार से रक्षा करें। यदि कोई नराधम उन्हें कष्ट दे तो राजा उसे विविध कष्ट दे। संतप्त करें। हिंसक से प्रेम न करें। उसकी अधोगति कर दे। पुनरपि वह हिंसा के स्वभाव को नहीं त्यागे तो देश से बाहर निकाल दे या मार दे।

दंड विधान हिंसा नहीं

वेद में जहां प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखने के बार बार निर्देश दिए गए हैं ,वहां वेद विद्वान-द्वेषी, मांस भक्षी, क्रूर प्रकृतिवाले ,प्रत्येक कार्य में कुतर्क करने वाले-कुकर्मी एवं पाप की प्रशंसा करने वालों को विशेष मन्यु बल से संतप्त करने, बाण से बीन देने, बंधन में डाल दंड देने तथा अंग भंग करने या मार देने तक के आदेश मिलते हैं। जो वीर पुरुष क्रूर हिंसक ओं को मारता है उसके लिए प्रतापी(शुक्रशोचिः) अमर, पवित्र, शुद्ध करने वाला ,स्तुति करने योग्य, अग्नि के समान तेजस्वी, मित्र, विप्र, सखा आदि विशेषण का प्रयोग किया गया है। शत्रुनाशन प्रसंग में यदि कोई गौ,अश्व या प्रिय पुरुष को मारता है तो उसे शीशे की गोली से बीन्धने का विधान है। इस प्रकार हिंसको के नाश का अन्यत्रभी स्पष्ट विधान किया गया है। वस्तुतः आसुरी वृतियों से उत्पन्न हिंसक कर्मों के विनाश के लिए किया गया दंड विधान अहिंसा के परम उत्तम सिद्धांत की रक्षा के लिए ही है। इसीलिए शत्रु नाशक पुरुषों को मित्र =सखा कहा गया है।

वेद की अहिंसा की रक्षिका हिंसा के सूक्ष्म रहस्य को ना समझ कर मध्यवर्ती काल में पशु पक्षियों की हिंसा को वेद सम्मत मानने का प्रयास किया गया जिससे वेद के प्रति जन साधारण को गिलानी तक हो गई। परंतु वेद का स्पष्ट मत यही है कि अधार्मिक पाप वृतियों के जनक दुर्गुणों तथा घातक मनुष्यों का मानव कल्याण के लिए अवश्य वध करने योग्य है, अर्थात पापियों को दंड देना हिंसा नहीं; वेद में किया गया दंड विधान अहिंसा की रक्षा के लिए है।

अहिंसा पालन के प्रकार

वैदिक उपासना के मार्ग पर अग्रसर उपासक विविध प्रकार से व्यवहार में अहिंसा का पालन करने को उद्यत रहता है। वह अहिंसा सेवी अन्य उपासक बंधुओं के साथ सूर्य चंद्रमा के समान सदैव कल्याण तथा अहिंसा के पथ पर चलने की कामना करता है। अहिंसा के पालन का संकुचित क्षेत्र नहीं होना चाहिए। इसलिए वेद अहिंसा का पालन, प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखकर, करने का निर्देश करता है। अहिंसा धर्म का पालन सत्य वक्ता, अहिंसा सेवी विद्वान के संसर्ग में ही हो सकता है। अतः अहिंसा का पालक ऐसे विद्वानों का अपने यहां आह्वान करता है।

अहिंसा का पालन किसी समय विशेष में करने से सिद्धि नहीं होती, इसलिए महर्षि दयानंद सरस्वती मंत्र के भावार्थ में स्पष्ट करते हैं कि जो यम नियमों से युक्त होकर कार्य सिद्धि के लिए दिन रात प्रयत्न करते हैं वह उत्तम होते हैं दैनिक व्यवहार में दिन रात अहिंसा का पालन करते हुए साधक आत्मिक साहस को प्राप्त कर सकता है। अहिंसनीय व्यवहारों में परमात्मा विशेष रुप से प्रोत्साहित करता है। परमात्मा हिंसा रहित योग यज्ञों का सम्राट है। वह अहिंसा से परिपूर्ण स्तुति प्रार्थना को ही स्वीकार करता है। साधक अहिंसा का पालन करते करते जब अपनी इंद्रियों को अहिंसा में अभ्यस्त बना लेता है तब परमात्मा प्राप्ति का मार्ग उसके लिए प्रशस्त हो जाता है साधक इंद्रियों की हिंसक अग्नि का सयम करके प्रभु प्रेम को प्राप्त करते हैं।

वेदों में प्रयुक्त अध्वरः अश्वर्वाअदभा अनेहस् अघ्नता अघ्न्या आदि पद अहिंसा पालन का स्पष्ट संकेत करते हैं। वेदों में अहिंसा विषयक पर्याप्त निरुपण होते हुए भी पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके अनुयाई भारतीय विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में यह मत प्रकट किया है कि भारत में आर्य लोग गौ मांस भक्षण करते थे।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

मैकडानल और कीथ अपनी पुस्तक वैदिक इंडेक्स में लिखते हैं कि वैदिक काल के भारतीयों का मांस के संबंध में भोजन का पता उन जानवरों की सूची से चलता है जो यज्ञ में मारे जाते थे ,जो मनुष्य खाते हैं वहीं देवताओं को बलि देते हैं, भेड़ बकरी और बैल पुस्तक में दूसरे स्थान पर लिखा है कि वैदिक काल में मांस सर्वसाधारण का भोजन था। वेद पर लगाए गए इस प्रकार के अनेक आरोपों का मुख्य कारण है वेदों को प्रकरणशः समझने की योग्यता का अभाव वेदों को स्वयं न पढ़कर अन्यों के भाष्यो पर विश्वास करना तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद की निंदा कर भारतीयों को वैदिक धर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न करने की व्यापक योजना। अहिंसा के विरुद्ध लिखने वाले इन पश्चिमी विद्वानों का कई वैदिक विद्वानों ने युक्ति एवं प्रमाण पूर्वक निराकरण किया है।

इस प्रसंग में इतना अवश्य विचारणीय है कि जब वेदों में सर्व साधारण के लिए सामान्य रुप से अहिंसा लिखी है पुन: हिंसा के लिए वेदो को समर्थक मानना नितांत अज्ञता एवं धृष्टता है इस प्रकार जब जनसाधारण के लिए वेद अहिंसाव्रत के पालन का विधान करता है तो सात्विक गुण अभिलाषी साधक के लिए हिंसा का प्रश्न हि नहीं होता।

अहिंसा के भेद

वैदिक संहिताओं में अहिंसा तथा हिंसा के अनेक स्वरुप हैं उनको प्रमुख रुप से 3 भेदों में विभक्त कर सकते हैं शारीरिक अंगों से हिंसा ना करना ,वाणी से असत्य और कटु वचन ना बोलना तथा मन से विद्वेष ना करना, अहिंसा है। इस तरह वेदों में मन, वाणी एवं शरीर तीनो से ही अहिंसा पालन के निर्देश मिलते हैं संक्षेप से यहां अनुशीलन किया गया है

मानसिक अहिंसा– – मननात्मक शक्ति, बुद्धि के विकृत होने पर तामसिक गुण की अधिकता से मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है और शस्त्र आघात या अन्य साधनों से मनुष्य तथा पशुओं को नष्ट करना चाहता है। ऐसे अनिष्ट चिंतक को श्रुति में दुर्मतिः दुहार्द अर्थात दुष्ट मति वाला दुष्ट हृदय वाला दुरात्मा कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञान के द्वेषी को ब्रह्मद्विषः विचार एवं द्रोही के लिए द्रुह पद का प्रयोग है। इन शब्दों का संबंध मानसिक हिंसा से है मानसिक हिंसा में संलग्न मनुष्य निश्चिंत शांत नहीं रह सकता इसीलिए उपासक वेद के शब्दों में प्रार्थना करता है कि हे प्रभु सुमनस्कता और दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हम सदैव विद्वानों की संगति करते रहें। विद्वानों का कर्तव्य है कि वह अहिंसा से पूर्ण कार्यों की रक्षा करें एवं परस्पर प्रीति बढ़ाकर अहिंसा धर्म की वृद्धि करें। विद्वानों के लिए वेद का आदेश है कि विद्वान ऐसी बुद्धि को उत्पन्न करें जिससे समाज में बल की वृद्धि तथा योग कर्मों में प्रगति हो सके। अहिंसा व्रत के पालन से साधक मोक्ष मार्ग का पथिक तभी बन सकता है जबकि वह योगाभ्यास के द्वारा प्राणी मात्र में परमात्मा की अनुभूति करता है। वह परमात्मा में सब जड़ चेतन आदि को समझता है ऐसे सम्यक दर्शन में उसे किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता वह सुख दुख हानि लाभ में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को देखता हुआ धार्मिक वृत्ति से मोक्ष को प्राप्त होता है मानसिक अहिंसा का पालन सर्वोपरी कठिन है अत: वैदिक साधना से भी मानसिक अहिंसा के अनुकूल व्यवहार करें, इसका पालन बड़ी गंभीरता से व्यवहार को शुद्ध करने से होता है।

वाचिक अहिंसा- जो व्यक्ति कठोर भाषण के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुंचाते हैं या वाणी द्वारा द्रोह प्रकट करते हैं वेद में उन्हें द्रोघवाचः कहा गया है। इसे हम वाचिक हिंसा कह सकते हैं। जो असत्य वचनों से दूसरे को धमकाता, झिड़कता है और अहिंसक को हिंसक कहता है अपने को सत्यवादी एवं धर्मात्मा सिद्ध करता है सर्वज्ञ परमात्मा उसकी आत्मा को निर्बल करता है। असत्य बोलने या गाली देने वालों के लिए प्रजा रक्षक राजा दंड विधान करें। वाचिक अहिंसा के साधक को आवश्यक है की स्तुति करने वाली उपदेश द्वारा ज्ञान प्रदान करने वाली तथा ईड़ा सरस्वती और महिं तीन अहिंसानिय वाणियों को सदा प्राप्त करें।

अहिंसा व्रत के पालक ऐसा संयम करें जिससे दिव्य गुणयुक्त महात्माओं के सम्मुख प्रतिज्ञा पूर्वक घोषणा कर सके कि भगवान ना तो हम हिंसा करते ना घात पात करते हैं ना ही वाग्व्यवहार से परस्पर विरोध करते हैं। मंत्र के अनुसार आचरण करते हुए तिनकों के समान तुच्छ निर्बल साथियों के साथ भी एकमत होकर मिलकर वेगपूर्वक कार्य करते हैं उपासना काल में किसी की हिंसा करने वाली प्रार्थना भी ना करें। परमेश्वर के समीप उपस्थित होकर उन्हें अहिंसा जनक स्तुति प्रार्थना तथा क्रियाओं द्वारा व्रत पालन का संकल्प लें जो सत्य सिद्ध हो।

उपासक परिवार में रहकर किस प्रकार वाचिक अहिंसा का आचरण करें इसका सुंदर परिशीलन अथर्ववेद में किया गया है। पति पत्नी पारस्परिक संभाषण में मधु के समान मधुर और शांतिदायक वाणी बोलें। पुत्र माता पिता के साथ अनुकूल मन वाले होकर वर्तनी वाले हो। भाई भाई आपस में द्वेष न करें। बहन बहन आपस में द्वेष न

करें ।इसी प्रकार बहन भाई भी अहिंसा व्रत के पालक होकर सदैव मीठी एवं कल्याणकारिणी वाणी बोलें ।जिस प्रकार विद्वान योगी पुरुष आपस में विद्वेष नहीं करते उसी प्रकार घर के सभी सदस्यों का

प्रेम- पूर्ण व्यवहार हो। सभी अपने से बड़ों का आदर करें, ए मन होकर रहें, कभी पृथक न हो, मिलकर संसिद्धि अर्थात कार्यों को पूरा करने का यत्न करें, एक आधार बनाकर आचरण करें, एक दूसरों के प्रति सरल, मीठा, प्रेम पूर्वक बोले इस तरह साथ-साथ उद्योग करने वालों को परमात्मा एकमन वाले तथा पवित्र मन की शक्ति से युक्त करता है।

शारीरिक अहिंसा– जो मन और वाणी से हिंसा के भाव निकाल देगा वह शारीरिक हिंसा नहीं कर सकता। वेदों में मन वाणी से अहिंसा व्रत के साथ ही शारीरिक अहिंसा पालन के विशेष निर्देश उपलब्ध होते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, लोभ आदि के वशीभूत हो किसी को शारीरिक कष्ट देना, अंग-भंग करना या प्राण हरण कर लेना शारीरिक हिंसा का क्षेत्र है; इसके त्याग को शारीरिक अहिंसा कहा गया है। यथा- शारीरिक हिंसा को के लिए वेद मंत्रों में अत्रिणः रिपुः एवं हस्तघ्न आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ऐसे शारीरिक हिंसाको को दंड देने तथा शरीर से दुर्बल कर देने का विधान वेदों में किया गया है। शारीरिक अहिंसा-व्रत की पालना के लिए शारीरिक हिंसा का निषेध किया है कि प्रजाओं को शरीर के द्वारा कोई न मारे। साधक स्वयं शारीरिक कष्ट नहीं देता वर्ण कष्ट देने वालों के प्रति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर यह सभी हिंसक मनुष्य हमारे शत्रु बनकर वैर भाव ना रखें तथा हमारे शरीरों का नाश न करें अपितु हम परस्पर मैत्री का व्यवहार करते रहें। अहिंसा दोनों पक्षों से स्थिर होती है ।वेद का स्पष्ट आदेश है कि साधक न कभी दूसरों से हिंसित हो न स्वयं दूसरों की हिंसा करें। किसी स्थान विशेष पर भी हिंसा ना करें, अहिंसा के कार्यों में ही विद्वानों का सहयोग मांगे।

अहिंसा पूर्वक धन संचय-

साधक जीविकोपार्जन के लिए जो भी कार्य करता है उस में हिंसा का आश्रय लेकर दूसरों को कष्ट पहुंचा कर, झूठी प्रशंसा से या छल कपट से धोखा देकर धन संचय करता है। तो वह धन मोक्षधन की प्राप्ति नहीं कराता। हिंसा से प्राप्त धन राज्यश्री और उत्तम सामर्थ्य प्राप्त नहीं करा सकता। अतः साधक परमेश्वर से याचना करता है कि मुझे तो वह धन प्राप्त कराइए जिससे मैं भवसागर से पार जा सकूं और आपके दिव्य स्वरूप में विद्यमान अनासक्ति, परोपकार तथा मोक्षधन पा सकूँ। उसे पता है कि अहिंसक ही उत्तम धन और पुत्रों को प्राप्त करता है। नचिकेता तथा मैत्रेयी ने इस सांसारिक धन्नो को नश्वर समझ कर अविनश्वर मोक्ष धन के कामना की थी। नारद को समझाते हुए सनत कुमार ने इस परम धन को भूमा कहा है। अतः सुख चाहने वाला उपासक अहिंसा से उपार्जित वित्त पर संतोष करें।

सार्वभौम अहिंसा

वैदिक संघिता ओं में अहिंसा की शिक्षा ग्रहण करने का क्षेत्र विशाल है। चेतन मात्र से अहिंसा जन्य सुख शांति की कामना के साथ साथ प्रकृतिस्थ अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, विद्युत, पर्वत, समुद्र, दिशा, दिन-रात, ऋतु, क्षेत्र, अन्नादि औषधी, वनस्पति, मन, बुद्धि, प्राण आदि से सुख तथा शांति की कामना की गई है। यह तभी संभव है जब साधक परमाणु से लेकर परमात्मा तक के सूक्ष्म तथा महान तत्वों का ज्ञान वेदादिशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त करें ।साधक प्रकृति के पदार्थों, मनुष्य, गौ आदि पशुओं से सुख एवं उनकी कामना करता है। विज्ञ साधक इस ज्ञान से संपन्न हो विचारता है कि प्रकृति का प्रत्येक तत्व अहिंसक होकर परोपकार में तल्लीन हैं। पुनः मैं भी क्यों ना इन से शिक्षा ग्रहण कर अहिंसा व्रत का पालन करूं। मैं किसी प्राणी विशेष को किसी स्थान विशेष में क्यों मारुं यह तो मेरे लिए हितकारी है, प्रजापति की प्रजा हैं ,जब मैं इन्हें जीवनदान नहीं दे सकता तो इन्हें विनष्ट करने का भी तो मुझे अधिकार नहीं ,अतः सर्वथा ही अहिंसा पालनीय हैं।

अहिंसा का फल –

सामवेदीय ऋचा में कहा गया है कि अहिंसनीय योगयज्ञ के द्वारा भक्ति रस का पान करता हुआ साधक विश्व बंधुत्व की भावना को प्राप्त कर लेता है उसे ब्रह्मांड में किसी से भय नहीं रहता। साधक वेद के शब्दों में प्रार्थना करता है कि अंतरिक्ष से. द्युलोक से, पृथ्वी लोक से, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे से, हमें अभय प्राप्त हो। उसकी कामना होती है कि मुझे मित्र से, शत्रु से, परिचित से, अपरिचित से, रात में और दिन में अभय प्राप्त हो, सारी दिशाएं मेरी मित्र बन जाएं साधक अभय प्राप्ति की कामना करता हुआ जब

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

अहिंसा व्रत को सिद्ध कर लेता है तो शचीपति परमात्मा उसे आगे, पीछे से ,शत्रुओं से अभय कर देता है, अहिंसा सिद्ध साधक के लोक परलोक दोनों कल्याणकारी हो जाते हैं। अहिंसा वृत्ति ही धर्म पूर्वक राज्य करते हैं उत्तम सदगृहस्थ भी जीवन को क्रोध रहित होकर अहिंसा सेवी होकर भगा सकता है अहिंसा व्रत के आधार पर ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों को प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा का यह व्रत है कि वह हिंसा रहित को ही प्रथम अंगीकार करता है, अन्य पुरुषों द्वारा भी वही सत्कार के योग्य है, योग दर्शन में कहा है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उपासक के पास रहने वाले सब प्राणियों का पारस्परिक वैर -भाव समाप्त हो जाता है। शेष योग- अंगो की आधारशिला अहिंसा है इसका परिपालन अपरिहार्य एवं सर्व प्राथमिक है,इसी हेतु महर्षि पतंजलि ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है वस्तुतः सत्यवादी यम तथा नियमों का अनुष्ठान अहिंसा की सिद्धि के लिए होता है, यदि कोई असत्यभाषण, चौर-कर्म, व्यभिचार आदि करता है तो मानो वह हिंसा करता है और यदि सत्यादी का दृढ़ता से अनुष्ठान करता है तो समझो वह अहिंसा व्रत का ही पालन कर रहा है।

मा स्रेध सोमिनः । ऋग्वेद 7 /32/9

न स्रेधन्तं रयिर्नशत् । ऋग्वेद 7 /32/9 , सामवेद 868

तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ।। ऋग्वेद 7 /32/9

मा हिंसीः पुरुषः जगत् । यजुर्वेद 16/3

ओम विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । ऋग्वेद 5 /82/5 यजुर्वेद 30/3

मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परादा। सामवेद 1806

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् । ऋग्वेद 4/01 /4

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं ——स्वस्तये ।। ऋग्वेद 10 /63 /12

अद्वेषो हस्तयोर्दधे । ऋग्वेद 1 /24 /4

उलूकयातुं-रक्ष इंद्र । ऋग्वेद 7 /104 /22

प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदाक्तोभि जहि रक्षसः पर्वतेन । अथर्ववेद 8/4/11

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।

मान्तः स्थुर्नो अरातयः ऋग्वेद 10 /57 /1

तप्तं रक्ष उब्जतम् । अथर्ववेद 8/4/1

ब्रह्मद्विषे ——द्वेषो धत्तम् । अथर्ववेद 8/4/1

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। यजुर्वेद 36/18

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो …….किमीदिने । अथर्ववेद 8/4/2

यदि नो गां हंसियद्यश्वं यदि पूरुषम् ।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

तं त्वा सीसेन विध्यामा यथा नोऽसो अवीरहा ।। अथर्ववेद 1/16/4

स्वस्ति पन्था मनुचरेम ---। ऋग्वेद 5/51/15

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्या हिन्सन्तीरुप्स्प्रिशः ।। ऋग्वेद 10/22/13

अनुव्रतः पिंतुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना अथर्ववेद 3/30/2

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । अथर्ववेद 3/30/3

दयामय ! प्रभु आप मेरे बने रहो

भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान हो । आप हम सब को सब कुछ देने वाले हो । आप दाता हो । आप की दया को पाने के लिए हम सदा तरसते रहते हैं , हम सदा लालायित रहते हैं । हम पर दया करो , हम पर कृपा करो । ताकि हम आपको सरलता से पा सकें । इसलिए हे प्रभो । आप सदा मेरे बने रहो , सर्वदा सर्वत्र उपलब्ध रहो । इस बात को यजुर्वेद का यह मन्त्र इस प्रकार उपदेश कर रहा है :

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्ज्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि।

अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे॥यजु. 1.30॥

1 हे प्रभु ! मैं सदा आप का बनकर रहूँ- मानव परमपिता परमात्मा का संदेशवाहक होता है । वह उस पिता के सन्देश को (जिसे वेद भी कहते हैं) सदा जन – जन तक पहुंचाने का काम कारता है । इस लिए यह सन्देश वाहक इस मन्त्र के माध्यम से प्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभो मे भव अर्थात् हे प्रभो ! आप मेरे बनिए , आप मेरे हो जाइए । मैं कभी प्रकृति के विभिन्न आकर्षणों में फंस कर उनमें लिप्त न हो जाऊं बल्कि सदा आप का ही बना रहूँ । आप की ही शरण में रहूँ । आप का ही स्तुतिगान करूँ अथवा आपका ही बन कर रहूँ ।

मानव अथवा जीव प्रभु का बनकर क्यों रहना चाहता है ? वह प्रभु की शरण क्यों चाहता है ? वह प्रभु की पवित्र गोद को क्यों प्राप्त करना चाहता है । हम जानते हैं कि प्रभु सर्वशक्तिमान होने के कारण सब प्रकार के सुखों को देने वाले हैं । जब उसकी शरण मात्र में ही हमें सब सुख प्राप्त हो जाते हैं तो फिर हम उस प्रभु से दूर क्यों रहें ? जब उसकी गोद का अधिकार मात्र पाने से ही हम धन – धान्य संपन्न हो सकते हैं तो हम उस प्रभु से दूर कैसे रह सकते हैं ? इसलिए हम कभी प्रकृति के विभिन्न पदार्थों के सौंदर्य में न उलझ कर , उन में न फंस कर अपना समय नष्ट न करें अपितु सदा प्रभु के बनकर उसके पास रहते हुए , उसकी गोदी को पाने का सदा यत्न करते हैं ।

2. सदा प्रभु की शक्तियों को पाने का यत्न करूँ - मन्त्र आगे उपदेश कर रहा है कि धाम्ने – धाम्ने अर्थात् मैं प्रभु की एक एक शक्ति को पाने में सक्षम बनूँ । मानव की , जीव की सदा यह इच्छा रहती है कि वह शनैः- शनैः आगे बढे , निरंतर उन्नति पथ पर बढ़ता रहे । विश्व की सब सफलताएं उसके चरणों को चूमें किन्तु यह सब पाने के लिए उसे अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त करनी होती हैं । यह ईश्वरीय शक्तियां प्रभु का आशीर्वाद प्राप्त होने से ही मिला पाती हैं । इसलिए मानव के लिए आवश्यक है कि वह सदा ईश्वर की छत्रछाया में रहते हुए धीरे धीरे ईश्वर की वह सब शक्तियां , जो प्राप्त कर पाना संभव है , उन्हें प्राप्त करने का सदा प्रयास करते हुए सफलता पाता रहे ।

3 मेरे कर्म यज्ञरुप हों - मानव जब ईश्वरीय शक्तियां पाने का अभिलाषी होता है तो उसे अपने आप को यज्ञरुप बनाना होता है । बिना यह रुप धारण किये अर्थात् परोपकार के यह ईश्वरीय शक्तियाँ नहीं मिल पातीं । इसलिए मन्त्र कहता है कि यजुषे – यजुषे अर्थात् मैं अपने प्रत्येक कर्म को यज्ञात्मक बनाऊं । भाव यह है कि परोपकार

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

मेरा मुख्य ध्येय हो | दूसरों की सेवा , दूसरों की सहायता ही मेरा मुख्य कर्म हो | यह सब करने वाला ही प्रभु का सच्चा सेवक होता है , सच्चे अर्थों में प्रभु के चरणों को पाने का अधिकारी होता है | इसलिए उस प्रभु की समीपता पाने के लिए हमें यज्ञरुप बनना होगा | एसा बने बिना हम प्रभु की निकटता पाने के अधिकारी नहीं हो सकते | इस लिए हम अपने आप को यज्ञमय बनावें | न केवल स्वयं को यज्ञमय ही अनावें अपितु स्वयं ही यज्ञ बन जावें |

परमपिता परमात्मा का आशीर्वाद पाने के लिए उस को प्रसन्न करना आवश्यक होता है | जब वह हम पर प्रसन्न हो जाता है तो वह अपने सब वैभव हम पर लुटाने के लिए सदा तैयार रहता है | प्रभु के पास बहुत से दिव्य – गुणों का भण्डार होता है | इन दिव्य – गुणों को पाने के लिए हम सदा लालायित रहते है | यह मंत्र भी हमें उपदेश करते हुए कह रहा है कि देवेभ्यः अर्थात् जीव मात्र की सदा यह अभिलाषा रहती है कि वह अनेक प्रकार के दिव्य-गुणों का स्वामी बनकर देवत्व के स्थान पर आसीन हो |

जीव देवत्व के पद को पाने के लिए सदा दिव्य-गुणों की प्राप्ति के लिए जूझता रहता है , लड़ता रहता है , संघर्ष करता रहता है | इस संघर्ष के परिणाम स्वरुप ही , उसके इस पुरुषार्थ के परिणाम स्वरुप ही वह कुछ दिव्य – गुण प्रभु के प्राप्त आशीर्वाद से पाने में सफल हो जाता है | यदि उसे प्रभु का आशीर्वाद प्राप्त न हो , यदि प्रभु की दया – दृष्टि का हाथ उसके सर पर न हो तो उसे यह कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता | इसलिए ही मन्त्र ने अपने उपदेश में कहा है के हे प्राणी ! देवेभ्यः तूं दिव्य-गुणों को धारण करने वाला बन | इसलिए ही जीव मन्त्र के इस शब्द के माध्यम से परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! मैं निरंतर दिव्यगुणों का स्वामी बनना चाहता हूँ | यह दिव्य – गुण आपकी शरण के बिना , आपके आशीर्वाद के बिना संभव नहीं हैं | मुझे आप का स्नेह चाहिए , मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए | मुझे आपकी चरण-धूली चाहिए | मैं यह सब कुछ आपका बनकर ही प्राप्त कर सकता हूँ |

मेरी इस लालसा को पूर्ण करने के लिए हे प्रभु मैं सदा आप की सेवा में रहता हूँ | सदा आपकी चरण – धूलि को पाने का प्रयास करता हूँ | इस लिए हे प्रभु ! इन दिव्य – गुणों को पाने के लिए मेरी यही अभिलाषा है , मेरी यही कामना है , मेरी यही चाहना है कि आप मेरे बनो , मेरे बने रहो | इतना ही नहीं मैं भी सदा आप का ही बना रहूँ , आपके ही चरणों में निवास करते हुए सदा आप ही के गुणों का गान करते हुए इन गुणों को ग्रहण करुं , इन गुणों को अपने जीवन में धारण करते हुए आपके इन दिव्य – गुणों को प्राप्त करने का अधिकारी बनूँ |

परमात्मा की निकटता पाने से हमारी शक्तियां विकसित होती हैं | हम दिव्य – गुणों के स्वामी बनाते हैं | इससे केवल हमारी शक्तियां ही नहीं बढ़तीं बल्कि हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञीय भावना से ओत – प्रोत हो जाता है | हमारे कर्मों में परोपकार की, प्रभु आराधना की , दूसरों की सेवा की , दूसरों की सहायता की , दीन – दुःखियों को उठाने की भावना बलवती होती है | इस प्रकार हमारा प्रत्येक कर्म पवित्र हो जाता है | दूसरी और यदि हम प्रभु से विमुख होते हैं तो हमें इन दिव्य शक्तियों में से कुछ भी प्राप्त नहीं होता | हम यज्ञीय नहीं बन पाते | परोपकार हमारे जीवन का भाग नहीं होता | इस कारण हम सदा दुःखों में , कष्ट – क्लेशों में डूबते हुए कभी खुश – प्रसन्न नहीं हो पाते | इस विपरीत प्रभाव से बचने के लिए हमें अपने जीवन को इस मन्त्र के उपदेश के अनुरुप बनाना आवश्यक हो जाता है |

अतः हम सदा इस पयत्न में रहें कि हम उस प्रभु को पाने के लिए , उस के आशीर्वाद में रहने के लिए , उस के आदेशों का पालन करते हुए सदा यज्ञमय बनने का , सदा पुरुषार्थी बनने का , सदा दिव्य-गुणों को पाने का प्रयास करते रहें | एसा करने से ही हमें अनेक प्रकार के दिव्यगुणों की प्राप्ति होगी | इससे ही हमें अनेक प्रकार के दिव्य-गुणों की प्राप्ति के साथ हमारी शक्तियों में वृद्धि होगी तथा हमारा जीवन यज्ञमय बनेगा | हम अन्यायपूर्ण ढंग से केवल अर्थ संचय की और न जाकर पुरुषार्थ से दिव्यगुणों के अधिकारी बनेंगे |

लोक हित के कामों से उन्नति सम्भव

संसार में हमारी जितनी भी कृयाएं हैं , उन सब में हमारा दृष्टीकोण " प्राण शक्ति की रक्षा, तीनों प्रकार के तापों से निवृति तथा लोक हित होना चाहिये । यदि हम एसा कर पाये तो निश्चय ही हमारे घर उच्चकोटि के निवास के योग्य , मंगल से भरपूर, सुखकारी , लोगों के विश्राम के योग्य , सब प्रकार के बलों व प्राण – शक्ति से सम्पन्न तथा सब प्रकार की वृद्धि , उन्नति का कारण बनेंगे ।" यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का यह 27 वां मन्त्र इस तथ्य पर ही प्रकाश डालते हुए कह रहा है कि :-

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।

सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च॥ 27॥

मानव के लिए उसकी तीन क्रियाओं का विशेष महत्व होता है । इनमें एक प्राण शक्ति की रक्षा करना, दूसरे त्रिविध अर्थात् तीनों प्रकार के तापों से निवृति तथा जनकल्याण या लोकहित के कार्य करना । जब इस प्रकार के कार्य होंगे तो हमारे घर , जिन्हें निवास भी कहते हैं , यह उत्तम प्रकार के निवास के योग्य होंगे , सुखकारक होंगे, लोगों के विश्राम के योग्य होंगे, यह बल तथा प्राण शक्ति से सम्पन्न होंगे । इस प्रकार यह सब प्रकार की वृद्धि , उन्नति का कारण होंगे ।

आओ अब हम इस मन्त्र के विस्तृत भाव को समझने का प्रयास करें ।

प्रभु की सम्पतियों को किस स्वीकारें :- इस मन्त्र में प्रथम बात की चर्चा करते हुए कहा गया है कि हम इस संसार में आये हैं । हमारे लिए इस संसार में परम पिता परमात्मा ने अनेक वस्तुएं भी बना रखी हैं । यह हमारे ऊपर है कि हम इन वस्तुओं को किस रूप में लें अथवा किस प्रकार स्वीकार करें ?, या यूं कहें कि हम इन वस्तुओं को किस दृष्टिकोण से लें अथवा प्रयोग करें ? इस विषय का उतर देते हुए प्रभु ने चार बिन्दुओं को सामने रखा है :-

1. हम प्राणशक्ति के लिए ग्रहण करें :- मन्त्र उपदेश करते हुए कह रहा है कि मानव जब इन पदार्थों की आवश्यकता अनुभव करता है तो यह विचार कर इन्हें प्राप्त करता है कि वह जो भी वस्तु ईश की दी हुई प्राप्त कर रहा है , वह केवल प्राणों की रक्षा के लिए प्राप्त कर रहा है । मानव के लिए प्राण ही इस शरीर में सब से महत्व पूर्ण होते हैं । जब तक इस शरीर में प्राण गति कर रहे हैं , तब तक ही शरीर गति करता है । ज्यों ही इस से प्राण निकल जाते हैं , त्यों ही शरीर उपयोग के लिए नहीं रहता । अब तो परिजन भी इस शरीर से मोह नहीं करते तथा अब वह इसे शीघ्र ही परिवार से दूर एकान्त में जा कर सब के सामने इस का अन्तिम संस्कार कर देते हैं , दूसरे शब्दों में इसे अग्नि की भेंट कर देते हैं ।

इस लिए मन्त्र में कहा गया है कि हम इस पदार्थ को प्राणशक्ति की रक्षा के लिए प्रयोग कर रहे हैं , ग्रहण कर रहे हैं । अतः हम इस वस्तु को अपने प्राणों की रक्षा की भावना से , रक्षा की इच्छा से प्राप्त कर रहे हैं । इस के लिए कुछ अन्य धारणाएं इस प्रकार दी हैं :-

क). खुला व हवादार घर बनावें :- मानव को अन्य पशु व पक्षियों की भान्ति नहीं रहना होता । इसलिए कहा जाता है कि प्रत्येक मानव के लिए सर छुपाने के लिए छत की आवश्यकता होती है । अपने साधनों को ध्यान में रखते हुए घर का निर्माण किया जाता है , इस कारण किसी का घर बडा होता है और किसी का छोटा । यह मन्त्र हमारे निवास के लिए बनाए जाने वाले घर के लिए उपदेश कर रहा है कि हमारा घर एसा हो , जिसमें हमारे प्राण शक्ति की बडी सरलता से वृद्धि हो सके । सूर्य सब रोगों का विनाश करने वाला होता है , इसलिए घर एसा हो कि जिसमें सूर्य की किरणें सरलता से प्रवेश कर सकें । इस के साथ ही साथ इस घर की छत ऊंची हो, खूब खिडकियां व खुले दरवाजे बनाये जावें ताकि खुली वायु का प्रवेश इस घर में सरलता से हो सके । यह वायु और सूर्य का प्रकाश व किरणें यदि घर में सरलता से प्रवेश करेंगे तो हमारे प्राणशक्ति बढने से हमारी आयु भी लम्बी होगी ।

ख). पौषक भोजन :- प्रत्येक प्राणी के लिए क्षुद्धा शान्ति के लिए भोजन की आवश्यकता होती है । भोजन तो कोई भी किया जा सकता है किन्तु यदि भोजन की व्यवस्था सोच समझ कर न की जावेगी तो यह रोग का कारण भी बन सकता है तथा प्राण – शक्ति के नाश का भी , जब कि भोजन प्राण – शक्ति की रक्षा के लिए किया जाता है । इसलिए हम सदा खाद्य पदार्थ लाते समय यह ध्यान रखें कि हम अपने घर वह ही खाद्य सामग्री लावें , जिसमें पौष्टिकता की प्रचुर मात्रा हो, ताकि प्राण – शक्ति की वृद्धि हो सके ।

ग). प्राणशक्ति बढाने वाले कार्य करें :- मनुष्य कुछ न कुछ कार्य करता ही रहता है , वह खाली , निठल्ला बैठ ही नहीं सकता । यदि वह निठल्ला बैठता है तो वह बेकार हो जाता है , शारीरिक श्रम करने की शक्ति क्षीण हो जाती है तथा प्राणशक्ति कम हो कर उसकी आयु भी कम हो जाती है । जो मनुष्य श्रम करते हैं , कोई न कोई काम करते रहते हैं , उनके लिए मन्त्र आदेश देता है कि वह सदा एसा कार्य करें , एसा श्रम करें , एसी सीढ्दियां पाने का यत्न करें , जो प्राण शक्ति को बढाने वाली हों ।

घ). सत्संग में रहें :- मानव का रहन – सहन दो प्रकार का होता है । एक सत्संग के साथ तथा दूसरा बिना सत्संग अर्थात् कुसंग के साथ । कुसंग नाश का कारण होता है तो सत्संग निर्माण का कारण होता है । कुसंग में रहने वाला व्यक्ति बुरे कार्य करता है , मद्य , मांस व नशा आदि का सेवन करता है । इन वस्तुओं के सेवन से उसकी प्राणशक्ति का नाश होता है तथा वह जल्दी ही भायानक रोगों का शिकार हो कर मत्यु को छोटी आयु में ही प्राप्त हो जाता है ।

इस सब के उलट जब वह सत्संग में रहता है , उत्तम आचरण में रहता है तो कुसंग में व्यर्थ होने वाला धन बच जाता है । यह धन प्रयोग करके वह अति पौष्टिक पदार्थ अपने परिवार व स्वयं के लिए लेने में सक्षम हो जावेगा , जिससे उसके प्राणशक्ति विस्तृत होंगे । इस के अतिरिक्त उसके पास दान देने की शक्ति भी बढ जावेगी । इस धन से दूसरों को भी ऊपर उठाने में भी सहायक हो सकता है । इससे उसकी ख्याति भी बढती है , जो खुशी लाने का कारण बनती है । इस खुशी से भी प्राणशक्ति बढ जाती है । जब सत्संग में रहते हुए सत्य पर आचरण करेंगे तो उसकी मनोवृतियां भी उत्तम बन जावेंगी । यह वृतियां भी उसकी प्राणशक्ति बढाने का कारण बनेगी ।

2.त्रिविध दुःखों की निवृति के लिए ग्रह्ण कर :-

मानव सब प्रकार के दुःखों से दूर तथा सुखों के साथ रहने की सदा अभिलाषा करता है । इस के लिए उसे कई प्रकार के यत्न करने होते हैं । इसलिए मन्त्र कह रहा है कि हमारे उपभोग में आने वाले सब पदार्थ हम सब लोगों को प्राणशक्ति को सम्पन्न करने वाले हों । इन के प्रयोग से सब लोगों की प्राणशक्ति सम्पन्न हो । इसलिए ही हम पदार्थों को ग्रहण करंन । हम इस इच्छा से , इस भावना से इन पदार्थों को , इन वस्तुओं को ग्रहण करें कि जिनके सेवन से हम त्रिविध तपों को प्राप्त कर सकें । यह त्रिविध तप हैं , आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तप । इन त्रिविध तपों से हमारे सब प्रकार के दुःखों का नाश होता है ।

दूसरे शब्दों में हम यूं कह सकते हैं कि हम इस इच्छा से , इस भावना से तुझे ग्रहण करते हैं ताकि मेरे घर परिवार में तीनों अर्थात् प्रकृति , जीव और परमात्मा का स्तवन हो, यह तीनों ही प्राणशक्ति का आधार हैं । इसलिए इन तीनों का ठीक से विचार करना आवश्यक हो जाता है ।

3. जनहित के लिए पदार्थों का सेवन करें :-

मानव का कल्याण तब ही होता है , मानव का हित तब ही होता है , जब इस जगती का हित हो । इसलिए हमें वह ही कार्य करना चाहिये तथा वह ही पदार्थ प्रयोग करने चाहियें , जिनसे जगती का हित हो । अत; हम जो भी पदार्थ ग्रहण करें , वह जगती के हितकामना से , हित की इच्छा से ही ग्रहण करें । हमारे अन्दर सदा लौकिक व जनहित की भावना का होना आवश्यक है । अत; हम जो भी पदार्थ ग्रहण करें । उसे लोकहित के लिए समर्थ होने के लिए ही पाना होगा । स्वयं को लोकहित के लिए अधिक समर्थ होने का हम सदा यत्न करें ।

भोजन भी हम स्वस्थ रहने के लिए करते हैं । इसलिए हम सदा इस प्रकार का भोजन करें , जो सुपाच्य हो , पौष्टिक हो तथा जो भोजन हमें स्वस्थ भी रखे । हम सदा एसा भोजन करें कि जिससे हम दीर्घजीवी बन सकें तथा सदा लोक – संग्रहक , लोक – कल्याण के कार्यों में लगे रहें ।

4. गायत्र, त्रैष्टुप व जागत श्रेणी का घर बनावें :-

जब हमारा दृष्टिकोण इस मन्त्र के उपदेशों के अनुरुप बन जावेगा तो यह “गायत्र,त्रैष्टुप व जागत” की श्रेणी में ही होगा । हमारा घर सब प्रकार की प्राणशक्ति को प्राप्त करने वाला होकर हम अपने घर के बारे में इस प्रकार कह सकेंगे कि :-

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

क). हे भवन ! तूं उत्तम निवास के योग्य बन गया है ।

ख). हे भवन ! तूं कल्याण रुप भी है ।

ग). हे भवन ! तूं यह सब सुख देने वाला भी है ।

घ). इतना ही नहीं हे भवन ! तूं सब लोगों की उतमता के लिए ठीक से बैठने के लिए भी अच्छा व उत्तम है ।

ङ). इस प्रकार हे भवन ! तूं प्राण – शक्ति से सम्पन्न है और हमें भी उत्तम प्राण – शक्ति देने वाला है ।

च). हे भवन ! तेरे अन्दर खुली हवा , खुली सूर्य की किरणें आ सकतीं हैं । इस कारण तेरे में प्राणशक्ति को बढाने की खूब क्षमता होने से , इस के सब निवासियों को उन्नत करने वाला है ।

इस प्रकार इस मन्त्र में प्राण – शक्ति को बढाने के लिए उन्नत करने के लिए सुपाच्य भोजन व सत्संग के साथ ही साथ उत्तम भवन जिसमें खुली वायु व सूर्य की किरणें आती हों तथा जो प्राणशक्ति को बढाकर उन्नत करने वाले हो तथा त्रिविध सुखों को देने वाला हों , एसा होना चाहिये ।

चिंतन , मनन ही मन का कार्य

मानव का मन ही उसके सब क्रिया कलापों का आधार है । शुद्ध व पवित्र मन से सब कार्य उतम होते हैं तथा जिसका मन अशुद्ध होता है , जिसका मन अपवित्र होता है उसके कार्य भी अशुद्ध व अपवित्र ही होते हैं । मानव का मुख्य उद्देश्य भगवद प्राप्ति है , जो शुद्ध मन से ही संभव है । सब प्रकार के ज्ञान प्राप्ति का स्रोत भी शुद्ध मन ही होता है । मानव में विवेक की जाग्रति का आधार भी मन की शुद्धता ही होती है । यह शुद्ध मन ही होता है, जिससे शुद्ध कार्य होता है तथा उसके द्वारा किये जा रहे शुद्ध कार्यों के कारण उसकी मित्र मंडली में उतामोतम लोग जुड़ते चले जाते हैं । यह सब मित्र ही उसकी ख्याति , उसकी कीर्ति, उसके यश को सर्वत्र पहुँचाने का कारण होते हैं । अथर्ववेद के प्रस्तुत मन्त्र में इस विषय पर ही चर्चा की गयी है : –

मनसा सं कल्पयति , तद देवां अपि गच्छति ।

अथो ह ब्राह्मणों वशाम, उप्रयान्ति याचिंतुम ।।

मन से ही मनुष्य संकल्प करता है । वह माह देवों अर्स्थात ज्ञानेन्द्रियों तक जाता है । इसलिए विद्वान लोग बुद्धि को माँगने के लिए देवों अर्थात गुरु के पास जाते हैं ।

इस मन्त्र में बताया गया है कि मन का मुख्य कार्य मनन है , चिंतन है , सोच – विचार है । जब मानव अपना कार्य पूर्ण चिंतन से ,पूर्ण मनन से , पूर्ण रुपेण सोच. विचार कर करता है तो उसे सब प्रकार की सफलताएं, सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है । इन सुखों को पा कर मनुष्य की प्रसन्नता में वृद्धि होती है तथा उसकी आयु भी लम्बी होती है । यह मनन व चिंतन मन का केवल कार्य ही नहीं है अपितु मन का धर्म भी है । जब हम कहते हैं कि यह तो हमारा कार्य था जो हम ने किया किन्तु कार्य में मानव कई बार उदासीन होकर उसे छोड़ भी बैठता है । इसलिए मन्त्र कहता है कि यह मन का केवल कार्य ही नहीं धर्म भी है तो यह निश्चित हो जाता है कि धर्म होने के कारण मन के लिए अपनी प्रत्येक गति विधि को आरम्भ करने से पूर्व उस पर मनन चिंतन आवश्यक भी होता है ।

मनन चिंतन पूर्वक जो भी कार्य किया जाता है , उसकी सफलता में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता I मनन चिंतन से उस कार्य में जो भी नयुन्तायें दिखाई देती हैं , उन सब का निवारण कर, उन्हें दूर कर लिया जाता है I इस प्रकार सब गतिविधियों व सब तरह की व्यवस्थाओं को परिमार्जित कर उन्हें शीशे की भाँती साफ़ बना कर उससे जो भी कार्य लिया जाता है , उसकी सफलता में कुछ भी संदेह शेष नहीं रह पाता I परिणाम

स्वरुप प्रत्येक कार्य में सफलता निश्चित हो जाती है I अतः मन के प्रत्येक कार्य को करने से पूर्व उसके मनन व चिंतन रुपी धर्म का पालन आवश्य ही करना चाहिए अन्यथा इस की सफलता में , इस के सुचारू रुपेण पूर्ति में संदेह ही होता है I

मन के कार्यों को संचालन के लिए जब धर्म को स्वीकार कर लिया गया है तो यह भी निश्चित है कि इस के संचालन का भी तो कोई साधन होगा ही I इस विषय पर विचार करने से पता चलता है कि इसके संचालन के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ ही प्रमुख भूमिका निभाती है I ज्ञानेन्द्रियों को मन का भोजन भी कहा जा सकता है I जब तक किसी कार्य को करने सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं होगा तब तक उस कार्य की सम्पन्नता में, सफलता पूर्वक पूर्ति में संदेह ही बना रहेगा I जब तक मानव की क्षुधा ही शांत न होगी तब तक वह कोई भी कार्य करने को तैयार नहीं होता I अतः मन का भोजन ज्ञान है , जिसे पा कर ही वह उस कार्य को करने को अग्रसर होता है I इस लिए ज्ञानेन्द्रियों को मन का भोजन कहा है I इन ज्ञानेन्द्रियों से मन दो प्रकार का सहयोग प्राप्त करता है I प्रथम तो ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग से मन वह सब सामग्री एकत्रित करता है , जो उस कार्य की सम्पन्नता में सहायक होती है दूसरा इस सामग्री को एकत्र करने के पश्चात प्रस्तुत सामग्री को किस प्रकार संगठित करना है , किस प्रकार जोड़ना है तथा किस प्रकार उस कार्य की सपन्नता के लिए उस सामग्री का प्रयोग करना है , यह सब कुछ भी उसे मन ही बताता है I अतः बिना सोच विचार , चिन्तन ,मन व मार्ग दर्शन के मन कुछ भी नहीं कर पाता, चाहे इस निमित उपयुक्त सामग्री उसने प्राप्त कर ली हो I अतः किसी भी कार्य को संपन्न करने के लिए साधन स्वरुप सामग्री का एकत्र करना तथा उस सामग्री को संगठित कर उस कार्य को पूर्ण करना ज्ञानेन्द्रियों का कार्य है I इस लिए ही मनको प्रत्येक कार्य का धर्म व ज्ञानेन्द्रियों को प्रत्येक कार्य को करने का साधन अथवा भोजन कहा गया है कहा गया है I

इस जगत में परमपिता परमात्मा ने अनेक प्रकार के फल ,फूल, नदियाँ नाले, जीव जंतु ,स्त्री पुरुष को बनाया है, पैदा किया है , उत्पन्न किया है I इन सब के सम्बन्ध में मन जो कुछ भी देखता व सुनता है, वह सब देखने व सुनने के पश्चात ज्ञानेन्द्रियों के पास जाता है I मन द्वारा कुछ भी निर्णय लेने के लिए जब यह सब सामग्री, सब द्रश्य बुद्धि को दे दिये जाते हैं तो बुद्धि सब को जांच , परख कर जो भी निर्णय लेती है, वह उस निर्णय से मन को अवगत करा देती है तथा आदेश भी देती है कि अब यह कार्य करणीय है I अब मन पुनः ज्ञानेन्द्रियों को अपने निर्णय से अवगत कराते हुए आदेश देता है कि प्रस्तुत कार्य की परख हो चुकी है I यह कार्य उतम है , करने योग्य है , इस को तत्काल सम्पन्नं किया जावे I इस आदेश के साथ मन ज्ञानेन्द्रियों को यह भी बताता है कि इस कार्य को किस रुप में संपन्न करना है ? इस प्रकार मन अपने प्रत्येक कार्य को संपन्न करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों का सहयोग प्राप्त करता है तथा उनके सहयोग से ही सब कार्य संपन्न करता है I मन के संकल्प क्या हैं तथा उस कार्य के विकल्प क्या हैं यह सब ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही निर्धारित किये जाते हैं , प्रस्तुत किये जाते है I अतः ज्ञानेन्द्रियों के साहयोग से ही मन के सब कार्यों को व्यवस्थित कर उनकी दिशा निर्धारित की जाती है तथा इन के द्वारा ही उन्हें सम्पन्नं किया जाता है I

इस सब से जो बात स्पष्ट होती है वह यह है कि प्रत्येक कार्य को करने के लिए मन चुन कर उस पर ज्ञानेन्द्रियाँ मनन व चिन्तन कर अपने सुझावों के साथ मन को लौटा देती हैं I मन उस पर निर्णय लेकर उसे करने के अनुमोदन के साथ पुनः करने का आदेश देते हुए पुनः ज्ञानेन्द्रियों को लौटा देता है तथा ज्ञानेन्द्रियाँ उस आदेश का पालन करते हुए उस कार्य को संपन्न ती है I अतः कोई भी कार्य करने से पूर्व उस पर मनन चिन्तन सुचारू रुप से होता है तब ही वह उतम प्रकार से सफल हो पाता है I

अजेयता के तप लिए आवश्यक

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

यह तप ही है जो मानव को अजेय बनाता है | यह तप ही है जो मानव को अघर्श्नीय बनाता है | यह तप ही है जो मानव को सब सुखों की प्राप्ति कराता है | यह तप ही है जो ज्ञान आदि की प्राप्ति कराता है | यह तप ही है जो सब प्रकार की सफलता का साधन है | इस तथ्य को ऋग्वेद के अध्याय 10 मंडल 154 के मन्त्र संख्या 2 में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है : तपसा ये अनाध्रिश्यास्तपसा ये स्वर्ययु: |

तपो ये चक्रिरे महास्तान्श्चिदेवापी गच्छतात || ऋग. 10.154.2 ||

हे (मर्त्य) मनुष्य (ये) जो (तपसा) तपस्या से (अनाध्रिश्या:) अघर्शनीय हैं (ये) जो (तपसा) तपस्या से (स्व:) सुख को (ययु:)प्राप्त हुए हैं (ये) जिन्होंने (माह:) महान (तप:) तपस्या (चक्रिरे) की है (तान चिद एव) उनके पास ही (अपि गच्छतात) जाओ |

भावार्थ : –

हे मनुष्य इस संसार मे जो अघर्श्नीय हैं , जो तप से सुखों को प्राप्त कर चुके हैं , जिन मनुष्यों ने महान तप किया है , ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए उनके ही समीप जाओ |

मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में सफल हो | वह जानता है कि सफलता से ही यश मिलता है ,सफलता से ही कीर्ति मिलती है तथा सफलता से ही उस की ख्याति दूर दूर तक जा पाती है , जो कभी सफलता के दर्शन ही नहीं करता , उस को कौन याद करेगा, उसका उदाहरण कौन अपने बच्चों को देगा | उस का कौन अनुगामी बनेगा , कोई भी तो नहीं | इस लिए मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करे ताकि उसका यश व कीर्ति दूर दूर तक जा पावे | लोग उसके अनुगामी बन उसके पद – चिन्हों पर चलें | इस सब के लिए जीवन की सफलता का रहस्य का ज्ञान होना आवश्यक है | जिसे सफलता के रहस्य का ज्ञान ही नहीं , वह कहाँ से सफलता प्राप्त कर सकेगा | अतः हमें यह जानना आवश्यक है कि हम सफलता के रहस्य को समझें |

जीवन की सफलता का रहस्य : –

जीवन कि सफलता का रहस्य है तप और साधना |

साधना किसे कहते हैं :

जब व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेता है तथा उस लक्ष्य को पाने के लिए एकाग्रचित हो निरंतर लग जाता है तो इसे सा धना कहते हैं | तप भी इसे ही कहा जाता है |

इससे एक बात सपष्ट है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार की साधना के लिए , किसी भी प्रकार का तप करने के लिए सर्व प्रथम एक लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक है | यह लक्ष्य ही है जो हमें निरंतर अपनी और खिंचता रहता है | यदि लक्ष्य ही हमने नहीं निश्चित किया तो किसे पाने के लिए हम प्रयास करेंगे ? जब हमें पता है कि हमने पांच किलोमीटर चलना है तो इस मंजल को पाने के लिए आगे बढ़ते चले जावेंगे तथा कुच्छ दूरी पर ही हमें आभास होगा कि अब हमारा लक्ष्य समीप चला आ रहा है किन्तु यदि हमें अपने लक्ष्य का पता ही नहीं कि हमने कितने किलोमीटर जाना है , तो हम किस लक्ष्य को पाने के लिए आगे बढेंगे | इससे यह तथ्य सपष्ट होता है कि किसी भी सफलता को पाने के लिए प्रयास आरम्भ करने से पूर्व हमें एक लक्ष्य निश्चित करना होगा |

दृढ संकल्प : –

जब हमने कोई कार्य करने के लिए लक्ष्य निर्धारित कर लिया तो उस लक्ष कि प्राप्ति के लिए दृढ संकल्प का होना भी आवश्यक है , अन्यथा हमारा लक्ष्य केवल हवाई किला ही सिद्ध होगा |

अनुष्ठान : –

जब एक लक्ष्य निर्धारित हो गया तथा इसे पूर्ण करने का दृढ संकल्प भी हो गया तो इसे अनुष्ठान कहते है | दृढ निश्चय से यह एक अनुष्ठान बन जाता है | इस अनुष्ठान या व्रत को विधि पूर्वक संपन्न करने का प्रयास ही या इसे पूर्णता पर पहुंचाना ही साधना है | इस प्रयास को तप भी कहा जाता है | साधना ही तप का वास्तविक रूप होता है |

लक्ष्य तो प्रत्येक व्यक्ति का ही बड़ा उंचा होता है किन्तु वह इसे पाने के लिए पुरुषार्थ नहीं करता , मेहनत नहीं करता , साधना नहीं करता, तप नहीं करता तो यह लक्ष्य उसे कैसे मिलेगा | यह द्रढ संकल्प ही है , जो मनुष्य को साधना करने की प्रेरणा देता है , जो हमें तप करने की प्रेरणा देता है , जो हमें पुरुषार्थ के मार्ग पर ले जाता है | दृढ निश्चय व कतिवद्धता के बिना लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता |

दृढ निश्चय तथा कतिबधता ; –

लक्ष्य की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति में दृढ निश्चय तथा उसे पूर्ण करने के लिए कटिबद्धता का होना भी आवश्यक है | अन्यथा यदि हम ने बहुत ही उंचा लक्ष्य निर्धारित कर लिया किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए हम दृढ संकल्प नहीं कर पाए , अन्यमनसक से हो कर कभी प्रयास किया कभी छोड़ दिया तो उसे कैसे पावेंगे ? और यदि संकल्प भी दृढ कर लिया किन्तु कटिबद्ध होकर कार्य में जुटे ही नहीं तो भी कार्य की सम्पान्नता संभव नहीं | लक्ष्य से भटक कर लक्ष्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता | अतः लक्ष्य चाहे छोटा हो यहा बड़ा , उसे पाने के लिए निश्चय का दृढ होना तथा उसे पाने के लिए प्रयास करना या कटिबद्ध होना भी आवश्यक है |

जब मनुष्य दृढ निश्चय से कार्य में जुट जाता है तो वह शनैः शनैः सफलता प्राप्त करते हुए अंत में उन्नति कि पराकाष्ठा तक जा पहुंचेगा | तभी तो कहा है कि जब अभ्यास सत्य हृदय से होता है तो उसे करने वाला व्यक्ति सिद्ध तपोनिष्ठ हो कर अजेय व अघर्शनीय बन जाता है अर्थात वह अपने कार्य में इतना सिद्ध हस्त हो जाता है कि कभी कोई उसका प्रतिस्पर्धी हो ही नहीं पाता | वह अजेय हो जाता है | अब उसे जय करने की क्षमता किसी अन्य में नहीं होती | सब प्रकार कि सीढियां उसे अपने कार्य में धीरे धीर मिलती ही चली जाती हैं | जिस कार्य को वह अपने हाथ में लेता है , उस कार्य में सफलता दौड़े हुए उसके पास चली आती है |

यह मन्त्र इस उपर्युक्त तथ्य पर ही प्रकाश डालता है कि जो व्यक्ति अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेता है , उस लक्ष्य को पाने के लिए दृढ संकल्प होता है तथा वहां तक पहुँचने के लिए कटिबद्ध हो पुरुषार्थ करता है तो सब सिद्धियाँ उसे निश्चय ही प्राप्त होती हैं | अपने प्रत्येक कार्य में उसे सफलता मिलती है , मानो सफलता स्वागत के लिए उस के मार्ग पर खड़ी पहले से ही प्रतीक्षा – रत हो | इस तथ्य को ही मन्त्र में स्पष्ट किया है तथा कहा है कि किसी भी प्रकार की सफलता के लिए तप का होना आवश्यक है | बिना तप के कुछ भी मिल पाना संभव नहीं है | अतः हे मानव उठ ! अपना लक्ष्य निर्धारित कर , दृढ संकल्प हो उसे पाने के लिए प्रयास कर , तुझे सफलता निश्चित ही मिलेगी |

हम पवित्र हृदय के स्वामी हों

अग्नि तेज का प्रतीक है, अग्नि एश्वर्य का प्रतिक है, अग्नि जीवन्तता का प्रतिक है | अग्नि में ही जीवन है , अग्नि ही सब सुखों का आधार है | अग्नि की सहायता से हम उदय होते सूर्य की भांति खिल जाते हैं , प्रसन्नचित रहते हैं | जीवन को धन एश्वर्य व प्रेम व्यवहार लाने के लिए अग्नि एसा करे | इस तथ्य को ऋग्वेद के 6-52-5 मन्त्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है : –

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सुर्यमुच्चरनतम ।

तथा करद वसुपतिर्वसुना देवां ओहानो$वसागमिष्ठः ।। ऋग.6-52-5 ।।

शब्दार्थ : –

(विश्वदानीम) सदा (सुमनसः) सुन्द व पवित्र हृदय वाले प्रसन्नचित (स्याम) होवें (न) निश्चय से (उच्चरंतम) उदय होते हुए (सूर्यम) सूर्य को (पश्येम) देखें (वसूनाम) घनों का (वसुपतिः) धनपति , अग्नि (देवां) देवों को (ओहानः) यहाँ लाता हुआ (अवसा) संरक्षण के साथ (आगमिष्ठाः) प्रेमपूर्वक आने वाला (तथा) वैसा (करत) करें ।

भावार्थ :- हम सदा प्रसन्नचित रहते हए उदय होते सूर्य को देखें । जो धनादि का महास्वामी है , जो देवों को लाने वाला है तथा जो प्रेम पूर्वक आने वाला है , वह अग्नि हमारे लिए एसा करे ।

यह मन्त्र मानव कल्याण के लिए मानव के हित के लिए परमपिता परमात्मा से दो प्रार्थनाएं करने के लिए प्रेरित करता है : –

1. हम प्रसन्नचित हों

2. हम दीर्घायु हों

मन्त्र कहता है की हम उदारचित ,प्रसन्नचित , पवित्र हृदय वाले तथा सुन्दर मन वाले हों । मन की सर्वोतम स्थिति हार्दिक प्रसन्नता को पाना ही माना गया है । यह मन्त्र इस प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिए ही हमें प्रेरित करता है । मन की प्रसन्नता से ही मानव की सर्व इन्द्रियों में स्फूर्ति, शक्ति व ऊर्जा आती है ।

मन प्रसन्न है तो वह किसी की भी सहायता के लिए प्रेरित करता है । मन प्रसन्न है तो हम अत्यंत उत्साहित हो कर इसे असाध्य कार्य को भी संपन्न करने के लिए जुट सकते है, जो हम साधारण अवस्था में करने का सोच भी नहीं सकते । हम दुरुह कार्यों को सम्पन्न करने के लिए भी अपना हाथ बढ़ा देते हैं । यह मन के प्रसन्नचित होने का ही परिणाम होता है । असाध्य कार्य को करने की भी शक्ति हमारे में आ जाती है । अत्यंत स्फूर्ति हमारे में आती है । यह स्फूर्ति ही हमारे में नयी ऊर्जा को पैदा करती है । इस ऊर्जा को पा कर हम स्वयं को धन्य मानते हुये साहस से भरपूर मन से ऐसे असाध्य कार्य भी संपन्न कर देते हैं , जिन्हें हम ने कभी अपने जीवन में कर पाने की क्षमता भी अपने अंदर अनुभव नहीं की थी ।

मन को कभी भी अप्रसन्नता की स्थिति में नहीं आने देना चाहिए । मन की अप्रसन्नता से मानव में निराशा की अवस्था आ जाती है । वह हताश हो जाता है । यह निराशा व हताशा ही पराजय की सूचक होती है । यही कारण है की निराश व हताश व्यक्ति जिस कार्य को भी अपने हाथ में लेता है, उसे संपन्न नहीं कर पाता । जब बार बार असफल हो जाता है तो अनेक बार एसी अवस्था आती है कि वह स्वयं अपने प्राणांत तक भी करने को तत्पर हो जाता है । अतः हमें ऐसे कार्य करने चाहिए, ऐसे प्रयास करने चाहिए, एसा पुरुषार्थ करना चाहिए व एसा उपाय करना चाहिए , जिससे मन की प्रसन्नता में निरंतर अभिवृद्धि होती रहे ।

मन की पवित्रता के लिए कुछ उपाय हमारे ऋषियों ने बताये हैं , जो इस प्रकार हैं : –

1. हृदय शुद्ध हो : –

हम अपने हृदय को सदा शुद्ध रखें । शुद्ध हृदय ही मन को प्रसन्नता की और ला सकता है । जब हम किसी प्रकार का छल , कपट दुराचार ,आदि का व्यवहार नहीं करें गे तो हमें किसी से भी कोई भय नहीं होगा । कटु सत्य को भी किसी के सामने रखने में भय नहीं अनुभव करेंगे तो निश्चय ही हमारी प्रसन्नता में वृद्धि होगी ।

2. पवित्र विचारों से भरपूर मन : –

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

जब हम छल कपट से दूर रहते हैं तो हमारा मन पवित्र हो जाता है । पवित्र मन में सदा पवित्र विचार ही आते है । अपवित्रता के लिए तो इस में स्थान ही नहीं होता । पवित्रता हमें किसी से भय को भी नहीं आने देती । बस यह ही प्रसन्नता का रहस्य है । अत; चित की प्रसन्नता के लिए पवित्र विचारों से युक्त होना भी आवश्यक है ।

3. सद्भावना से भरपूर मन : –

हमारे मन में सद्भावना भी भरपूर होनी चाहिए । जब हम किसी के कष्ट में उसकी सहायता करते है , सहयोग करते हैं अथवा विचारों से सद्भाव प्रकट करते हैं तो उसके कष्टों में कुछ कमीं आती है । जिसके कष्ट हमारे दो शब्दों से दूर हो जावेंगे तो वह निश्चित ही हमें शुभ आशीष देगा । वह हमारे गुणों की चर्चा भी अनेक लोगों के पास करेगा । लोग हमें सत्कार देने लगेंगे । इससे भी हमारी चित की प्रसन्नता अपार हो जाती है । अतः चित की प्रसन्नता के लिए सद्भावना भी एक आवश्यक तत्व है ।

इस प्रकार जब हम अपने मन में पवित्र विचारों को स्थान देंगे , सद्भावना पैदा करेंगे तथा ह्रदय को शुद्ध रखेंगे तो हम विश्वदानिम अर्थात प्रत्येक अवस्था में प्रसन्नचित रहने वाले बन जावेंगे । हमारे प्रायः सब धर्म ग्रन्थ इस तथ्य का ही तो गुणगान करते है । गीता के अध्याय 2 श्लोक संख्या 64 व 65 में भी इस तथ्य पर ही चर्चा करते हुए प्रश्न किया है कि

मनुष्य प्रसन्नचित कब रहता है ? इस प्रश्न का गीता ने ही उतर दिया है कि मनुष्य प्रसन्नचित तब ही रहता है जब उसका मन राग , द्वेष रहित हो कर इन्द्रिय संयम कर लेता है । फिर प्रश्न किया गया है कि प्रसन्नचित होने के लाभ क्या हैं ?

इस का भी उतर गीता ने दिया है कि प्रसन्नचित होने से सब दुःखों का विनाश हो कर बुद्धि स्थिर हो जाती है । अतः जो व्यक्ति प्रसन्नचित है उसके सारे दुःख व सारे क्लेश दूर हो जाते हैं । जब किसी प्रकार का कष्ट ही नहीं है तो बुद्धि तो स्वयमेव ही स्थिरता को प्राप्त कराती है ।

जब मन प्रसन्नचित हो गया तो मन्त्र की जो दूसरी बात पर भी विचार करना सरल हो जाता है । मन्त्र में जो दूसरी प्रार्थना प्रभु से की गयी है , वह है दीर्घायु । इस प्रार्थना के अंतर्गत परमपिता से हम मांग रहे हैं कि हे प्रभु ! हम दीर्घायु हों, हमारी इन्द्रियाँ हृष्ट – पुष्ट हों ताकि हम आजीवन सूर्योदय की अवस्था को देख सकें । सूर्योदय की अवस्था उतम अवस्था का प्रतीक है । उगता सूर्य अंतःकरण को उमंगों से भर देता है । सांसारिक सुख की प्राप्ति की अभिलाषा उगता सूर्य ही पैदा करता है । यदि हम स्वस्थ हैं तो सब प्रकार के सुखों के हम स्वामी हैं । जीव को सुखमय बनाने के लिए होना तथा स्वस्थ होना आवश्यक है । अतः हम एसा पुरुषार्थ करें कि हमें उत्तम स्वास्थ्य व प्रसन्नचित जीवन प्रन्नचित मिले ।

लम्बी व दीर्घ आयु के लिए अच्छे व शुभ कर्म आवश्यक

मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह कम से कम एक सो वर्ष की आयु तो अवश्य ही प्राप्त करे । हमारे शास्त्रों ने भी उसकी आयु सौ वर्ष निर्धारित की है किन्तु हम देखते हैं कि बहुत कम लोग ऐसे होते है, जो सौ वर्ष की आयु पाते हैं । साधारणतया चालीस से स्तर वर्ष की आयु में ही इस संसार को छोड़ जाते हैं । जो सौ वर्ष की आयु परमपिता परमात्मा ने हमारे लिए निश्चित की थी , अपने जीवन की गल्तियों के कारण वह निरंतर हमारे से छिनती ही चली जाती है । यदि हम जीवन में भूलें न करते , यदि हम जीवन में आपराधिक कर्म न करते, यदि हम जीवन में सदा अच्छे कर्म करते, शुभ कर्म करते तो हम निश्चित रुप से सौ वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त करते । वेद इस बात का अनुमोदन करता है कि जो अच्छे कर्म करता है , जो शुभ कर्म करता है , प्रभु उसे ही दीर्घ आयु देता है । यजुर्वेद मन्त्र 25.21, ऋग्वेद मन्त्र 1.89.8 सामवेद मन्त्र 1874 तथा तैतिरीय व आरण्यक उपनिषद् 1.1.1 में इस तथ्य को ही स्पष्ट किया गया है । मन्त्र इस प्रकार है : –

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवान्सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ||यजु . 25.21, ऋग . 1.89.8 साम. 1874 , तैती. आरं. 1.1.1 ||

शब्दार्थ : – (यजत्राः) हे पूजनीय (देवाः) देवो, हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) शुभ व मंगलमय (श्रृणुयाम) सुनें (अक्षभिः) देखें (स्थिरे) दृढ व् पुष्ट (अंगेः) अंगों से (तुष्टुंसः) स्तुति करते हुए (तनुभिः) अपने शरीरों से (देवहितं) देवों के लिए निर्धारित या हितकर (यत आयुः) जो आयु है, उसे (व्यशेमही) पावें ।

भावार्थ : – हे प्रभो ! हम दोनों कानों से शुभ ही शुभ सुनें, दोनों आँखों से शुभ ही शुभ सुनें, हृष्ट – पुष्ट अंगों से आप की स्तुति करते हुए , इस शरीर के द्वारा देवों के लिए हितकर दीर्घ आयु प्राप्त करें ।

मानव सदा सुखों का अभिलाषी होता है । उसकी कामना होती है कि उसे अपार सुख मिलें । वह पूर्णतया सुखी रहने की अभिलाषा , इच्छा रखता है । इतना ही नहीं वह आजीवन निरोग भी रहने की कामना रखता है । इस प्रकार की इच्छाओं की कामना रखने वालों के लिए जीवन यापन के कुछ नियम भी होते हैं , जिन पर चलने से ही जीवन सुखी होता है तथा दीर्घ व स्वस्थ आयु मिलती है जब तक इन नियमों को अपने जीवन का अंग बनाकर इन पर चला नहीं जाता तब तक न तो जीवन स्वस्थ होता है, न ही सुखी तथा न ही शतवर्षीय आयु ही मिलती है । अतः इन नियमों का पालन आवश्यक होता है यह नियम सरल भी होते हैं तथा कठोर भी । अर्थात यह नियम दोनों प्रकार के गुण संजोये रहते हैं । नियम तो सरल ही होते हैं किन्तु उनके लिए, जिन के विचार सुलझे हुए होते हैं , जिन्होंने अपने मन को पूरी तरह से अपने वश में कर रखा हो , जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर पूरी तरह से अधिकार कर रखा हो ,जिन में सात्विक भाव जागृत होते हैं । इस प्रकार के लोगों को इन नियमों के पालन में कुछ भी कठिनाई नहीं होती । ऐसे लोगों के लिए ये नियम सरला होते हैं ।

इच्छा तो है सुखी जीवन की किन्तु खाते हैं मांस , तो जीवन सुखी कैसे होगा ? चाहते तो है जीवन सुखमय किन्तु पूरा दिन शराब के नशे में धुत हो कर गाली – गलोज व मार r -पीट करते रहते हैं तो सुख मय जीवन कैसे होगा, जीवन में खुशियाँ कैसे आवेंगी तथा आयु दीर्घ कैसे होगी ? जीवन में खुशियाँ भरने के लिए काम भी तो ऐसे ही करने चाहियें , जिन से खुशियाँ मिलें , तब ही तो जीवन खुश होगा अन्यथा यह कैसे संभव है । किसी को मार कर खाने वाला जब किसी मारते हुए भयभीत नहीं होता तो फिर अपने जीवन में सुख मांगे , खुशियों की कामना करे, किन्तु उसे यह सब मिलना संभव नहीं । अतः जीवन को खुशियों से भरने के लिए , जीवन को अच्छी प्रकार जीने के लिए तथा दीर्घ आयु पाने के लिए सात्विक जीवन , द्रिध्विचार ,व वशीभूत मन का होना आवश्यक है ।

विश्रिन्खल चितवृतियों वाले इन नियमों को सदा कठोर समझते हुए इन पर चलने से बचने का यत्न करते हैं । परन्तु जब तक इन नियमों का कठोरता से पालन नहीं होता, तब तक सच्चे सुख व दीर्घायु की प्राप्ति नहीं होती । जब हम ने दिल्ली जाना है तो हमें टिकट भी दिल्ली की लेनी होगी तथा गाडी भी दिल्ली की लेनी होगी, तब ही तो हम दिल्ली जा सकेंगे अन्यथा नहीं । अतः जो हम पाना चाहते है , उस के अनुरुप कर्म भी तो करेंगे तब ही वह हमें मिलेगा अन्यथा केवल अभिलाषा मात्र से तो कुछ मिलने वाला नहीं । वेद का यह मन्त्र भी तो इन दो तथ्यों पर, इन दो बातों पर ही प्रकाश डालता है, इन दो नियमों का ही तो उल्लेख करता है : –

1. कान से अच्छी बातें सुनें : –

हम अपने कान से अच्छी बातें सुनें, अच्छी चर्चाएँ सुनें, हमारे कानों में अच्छे स्वर ही पड़ें । लडाई – झगडा, कलह- क्लेश , म,आर – पीट व् कतला आदि के शब्द हमारे कानों में कभ न पड़ें । जब हम अच्छी अच्छी चर्चाएँ सुनेंगे तो हमारा मन प्रसन्न रहेगा , जब हम सब के सुख का ध्यान रखेंगे तो भी मन प्रसन्न रहेगा , जब हम किसी के जीवन की रक्षा करेंगे तो भी मन प्रसन्न रहेगा । जब हम राग – द्वेष को अपने हृदय में घर न करने देंगे तो भी हमारा मन प्रसन्न रहेगा , इस प्रकार के विचार आने से हृदय में पवित्रता आवेगी अतः जब हमारा मन पवित्र होगा तो कोई संकट हम पर आ ही नहीं सकेगा क्योंकि पवित्रता से ही सब खुशियाँ मिलाती हैं ।

2. आँख से अच्छा देखें : –

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

जब हम आँख से सदा अच्छा ही अच्छा देखना चाहेंगे, बुरे भावों से दूर रहेंगे, कुवासना व बुरी वृतियों को अपने पास नहीं आने देंगे ,बुरे चित्रों व् चरित्रों से दूर रहेंगे, दृष्टि में कभी कुवासना के भाव नहीं आने देंगे तो निश्चित ही लोग अपने परिवार के लोगों को हमारा उदाहरण देते हुए परिजनों को भी हमारे पदचिन्हों पर चलने के लिए प्रेरित करेंगे । जहां भी व जब भी कभी अच्छे लोगों की गणना होगी तो हमारा नाम सर्वप्रथम लिया जावेगा तो निश्चित ही हमारे मित्रों की मंडली में वृद्धि होगी । हमारे सहयोगी व हमारे हितैषी सदा हमारे साथ होंगे । इस प्रकार की अवस्था पाने के लिए यह आवश्यक है कि घृणा, कटुता, सब प्रकार के मनोमालिन्य को हम अपने पास न आने दें । सत्य तो यह है कि जब हम सुपथ पर चल रहे होते हैं तो इस प्रकार के दुर्भाव हमारे पास आने का साहस ही नहीं कर पाते । हम स्वयमेव ही इन कुविचारों से बच जाते हैं ।

जब हम परमपिता परमात्मा द्वारा दर्शाए इन दो नियमों का पालन पूरी लगन व उत्कट इच्छा से करते हैं तो हमारे संयम की पुष्टि होती है , संयम पुष्ट होने से हमारा शरीर भी स्वस्थ रहेगा, जब शरीर स्वस्थ होगा तो मन भी तो प्रसन्न रहेगा । यही दीर्घायु की कुंजी है " स्वस्थ शरीर व मन प्रसन्न । अतः जब हमारा शरीर पूर्णतया स्वस्थ व मन पूर्णतया प्रसन्न है तो हमारी आयु निश्चित रुप से लम्बी होगी, दीर्घ होगी , इस तथ्य को कोई झुठला नहीं सकता । अतः दीर्घायु की कामना करने वाले को सचरित्र रहते हुए मन की पुष्टि प्राप्त कर शरीर स्वस्थ बनाना होगा ताकि मन प्रसन्न रहे ।

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान वैदिक विश्विद्यालय

भेदपुर, नदिनी, 231303 मिर्जापुर, उत्तरप्रदेश ,9467657954, 7084768943 gyamvigyanbrhamgyan98@gmail.com

ज्ञान विज्ञान ब्रह्मज्ञान

वैदिक विश्वविद्यालय

अध्यक्ष

मनोज पाण्डेय